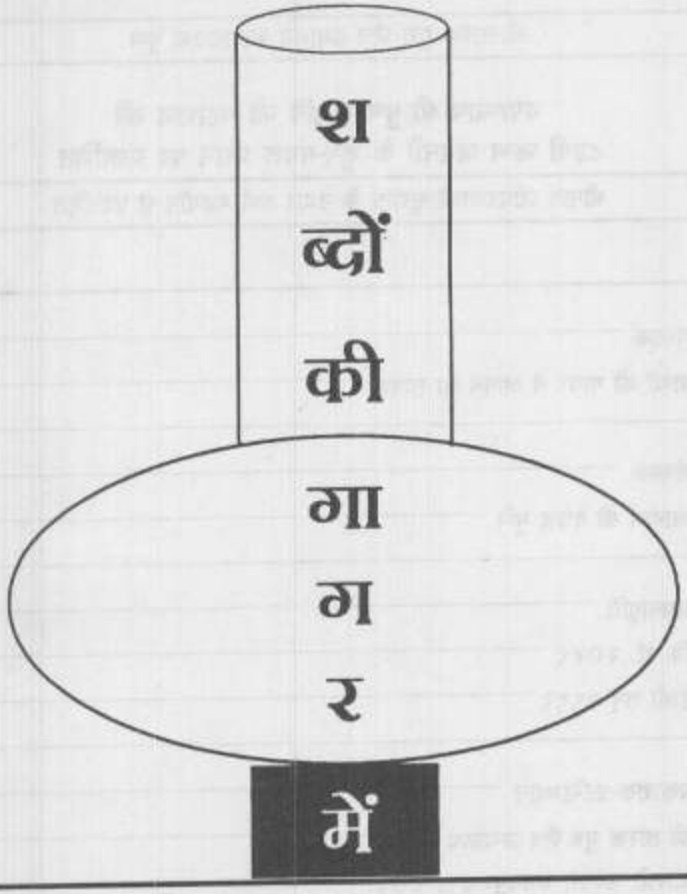

आगम का सागर

आचारांग, स्थानांग एवं समवायांग सूत्र पर शोध प्रधान चिन्तन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी

शब्दों की गागर
में
आगम का सागर

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय का ३०३वां पुष्प

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की
८३वीं जन्म जयन्ती के शुभ-मंगल प्रसंग पर प्रकाशित

श्रीमान जोधराजजी सुराना के उदार अर्थ सहयोग से प्रकाशित

पुस्तक
शब्दों की गागर में आगम का सागर

लेखक
आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रथमावृत्ति
वि. सं. २०४९
ईस्वी सन् १९९२

प्रकाशक-प्राप्तिस्थान
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३ ००१

लागत
मूल्य–५०/- रुपया

मुद्रण-सज्जा
कामधेनु प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
आगरा-२८२ ००२
दूरभाष : ६८३२८, ६४१४०

आगम ज्ञान-महोदधि
श्रमण संघ के प्रथम आचार्य सम्राट
श्री आत्माराम जी महाराज को
सादर समर्पित

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

स्वकीयम्

हमारी निष्ठा और श्रद्धा का प्रतिनिधित्व करने वाला एक शब्द है–आगम । आचार्य मलयगिरि के भावों के अनुसार–"आगम अध्यात्म ज्ञान का एक पवित्र एवं अक्षय स्रोत है।"[1] "आगम" अध्यात्म का वह निर्मल दर्पण है जिसमें हम अपनी आत्मा का वास्तविक प्रतिबिम्ब निहार सकते हैं। आगम अर्थात् आत्म-बोध का माध्यम।

जैन परम्परा में आगम का अभिप्राय लोकोत्तर ज्ञान के उस अक्षय प्रवाह से है, जिसका आदि उत्स–तीर्थंकर वीतराग प्रभु की अनन्त ज्ञान चेतना से प्रवाहित होता है और जो संसार में द्वेष-कलेश, वैर-विरोध, कामना-वासना आदि के द्वंद्व से मुक्त कर द्वन्द्वातीत परम समाधि भाव में पहुँचाने में सक्षम है, समर्थ है।

तीर्थंकर देव संसार की समस्त जीवजाति के कल्याण और अभ्युत्थान के लिए जो उपदेश देते हैं, देशना करते हैं, वह पवित्र वाणी और विचार भाव रूप में आगम ज्ञान है, और उस वाणी को/उस अर्थ गंभीर अध्यात्म-सार को, गणधर जब अपनी प्रबुद्ध प्रज्ञा और विशद रचना शैली से गुम्फित कर ग्रंथ का रूप देते हैं तब वह आगम-ग्रंथ, सूत्र या शास्त्र बन जाता है। इस प्रकार आगम के मूल उद्गाता-तीर्थंकर देव होते हैं, परन्तु आगम के रचनाकार गणधर कहलाते हैं। वीतराग सर्वज्ञ-अरिहंतों की वाणी होने से "आगम" की प्रामाणिकता और सार्वभौमिकता सर्वथा असंदिग्ध होती है।

तीर्थंकर देव द्वारा साक्षात् उपदिष्ट ज्ञान–"अंगप्रविष्ट" आगम के नाम से विश्रुत होता है तथा उसके आधार पर रचित तदनुसारी श्रुत ज्ञान–"अंग-बाह्य" आगम कहलाता है।

अंग-प्रविष्ट आगम–द्वादशांगी या गणिपिटक के नाम से भी प्रसिद्ध है। द्वादशांगी का अर्थ है–आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि बारह अंग आगम ।

बारह अंगों में सबसे पहला अंग आगम है–आचारांग। आचारांग, जैन आचार शास्त्र का मूलभूत आधार ग्रंथ है। इसमें साधक के आभ्यन्तर एवं बाह्य व्यक्तित्व की परिपूर्ण झांकी उभरी है। सद्विचार की शब्द-संधियों में सदाचार का संचार करना ही

---

१. आवश्यक सूत्र की मलयगिरी वृत्ति।

इसका मूलाधार है। यह एक बडी महत्वपूर्ण बात है कि–दर्शन, एवं तत्वज्ञान प्रधान सूत्रकृत् तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति जैसे आगमों को द्वितीय तथा पंचम स्थान पर रखकर 'आचार-प्रधान' शास्त्र को प्रथम स्थान दिया गया है। इससे 'आचार-धर्म' की महत्ता स्वयं प्रकट होती है। यह जैन परम्परा का अखूट खजाना है। स्वस्थ आचार दर्शन है।

आचार्य श्री भद्रबाहु के कथनानुसार, सम्पूर्ण अंगसूत्रों का सार "आचार" है और क्रमशः आचार का सार सम्यक् चारित्र, और सम्यक्–चारित्र का सार निर्वाण है, निर्वाण का सार है–आत्मा का अव्याबाध सुख ।[1] इस प्रकार अव्याबाध अनन्त सुख प्राप्ति का मूलभूत कारण बनता है–सम्यक् आचार ! सम्यक् आचार का प्रतिपादन करने वाला प्रथम अंग आगम है–"आयारो-आचार"।

इस दृष्टि से आचारांग सूत्र का स्वाध्याय, आत्मा के अव्याबाध सुखों का आधारभूत कारण सिद्ध होता है।

आचारांग

श्रमण के आचार, विचार, व्यवहार, विनय, शिक्षा, भाषा, अभाषा आदि अनेक विषयों का बहुत ही समीचीन वर्णन इसमें विद्यमान है।

विधि-मार्ग-प्रपा ग्रन्थ[2] के अनुसार इसके महापरिज्ञा (वर्तमान में विच्छिन्न) अध्ययन में आकाशगामिनी विद्या का वर्णन था। श्री शीलांकाचार्य ने महापरिज्ञा अध्ययन को आठवां तथा उपधान श्रुत को नवां अध्ययन माना है।

तत्त्वार्थ वार्तिक[3] धवला[4] (षट् खंडागम) जयधवला[5] (कषाय पाहुड) एवं अंग प्रज्ञप्ति[6] आदि में आचारांग की विषय वस्तु का उल्लेख मिलता है, जो नन्दी सूत्र आदि के वर्णन से मिलता-जुलता है।

"आचारांग सूत्र" का कई दृष्टियों से विशेष महत्व है। जहां यह अहिंसा-संयम-समता प्रधान धर्म का विशद प्रतिपादन करता है वहीं यह विषय तथा भाषा शैली की दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति के प्रमुख ग्रंथ वेद एवं उपनिषद् की

---

१. अंगाणं कि सारो ? आयारो ..... निर्युक्ति गाथा १६–१७
२. पृष्ठ ५०-५१
३. पृष्ठ ७२-७३
४. पृष्ठ ११०.
५. पृष्ठ १११.
६. गाथा १५,

समरूपता प्रदर्शित करता है। प्रथम आचारांग की शैली गद्य-प्रधान है, परन्तु इसके छोटे-छोटे ललित वाक्य, पद्य जैसी सरसता और प्रवाहशीलता से युक्त हैं। जिस प्रकार वेदों के छोटे-छोटे गद्य वचन अर्थ एवं भाव गांभीर्य से भरे हुए हैं वैसा ही भाव-गांभीर्य और शब्द-लालित्य आचारांग सूत्र में परिलक्षित होता है। आत्मा विषयक आचारांग की प्रतिपादन शैली तो केन, कठ और वृहदारण्यक उपनिषद् की भाषा शैली से बहुत ही समानता रखती है।

आचारांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध अहिंसा, संयम आदि तत्वों की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है, जबकि दूसरा श्रुतस्कंध मुख्य रूप में श्रमण-आचार के प्रतिपादन पर ही केन्द्रित है। फिर भी यह सुनिश्चित है कि आचारांग सूत्र न केवल जैन आचार शास्त्र का प्रमुख आधार ग्रंथ है, अपितु भगवान महावीर की अध्यात्म वाणी का भी सबसे महत्वपूर्ण संग्रह इसी में है।

स्थानांग सूत्र

स्थानांग सूत्र का अंग साहित्य में तृतीय स्थान है। आचारांग का प्रतिपाद्य आचार-प्रधान है। सूत्रकृतांग दर्शन एवं तत्वज्ञान प्रधान है। सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कंध पद्यात्मक है। द्वितीय श्रुतस्कंध, गद्य-पद्य युक्त है। किन्तु स्थानांग सूत्र की शैली अपनी एक विशिष्ट शैली है। यह एकविषय प्रधान नहीं, किंतु बहुविध विषयों का सुन्दर और उपयोगी संग्रह है। इसमें जीव, पुद्गल, इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, आचार, दर्शन, मनोविज्ञान, नीति, और मानव सभ्यता, संस्कृति आदि सैकड़ों विषयों का संख्या प्रधान शैली में संकलन हुआ है। इसलिए ज्ञान के बहुआयामी स्रोतों का उद्घाटन करने वाला यह आगम एक विशाल ज्ञान-कोष माना जाता है।

दिगम्बर ग्रन्थ अंग प्रज्ञप्ति[1] के अनुसार स्थानांग का वर्णन नय दृष्टि से हुआ है। एक द्रव्य के विभिन्न नयों से अनेक विकल्प करना प्रस्तुत आगम की अपनी विशेषता है। जैसे–संग्रह नय की दृष्टि से जीव एक है।

व्यवहार नय से जीव के दो भेद हैं–संसारी और मुक्त।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से जीव के तीन भेद हैं। नरक आदि चार गतियों में संक्रमण करते रहने से जीव के चार भेद होते हैं।

पाँच भावों के भेद से जीव पांच प्रकार का है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊर्ध्व-अधः इन छह दिशाओं में गमनागमन करते रहने के कारण जीव के छह भेद हैं।

---

१. गाथा २३-२८

इसी प्रकार विभिन्न नय दृष्टियों से स्थानांग सूत्र का विस्तार हुआ है।

बौद्ध पिटक में जो स्थान अंगुत्तर निकाय का है, अंगसाहित्य में वही स्थान इस आगम का है।

समवायांग सूत्र

द्वादशांगी में इसका चतुर्थ स्थान है। विषय की दृष्टि से यह आगम भी स्थानांग की तरह अनेकानेक विषयों का अनुपम कोष है। जीवविज्ञान और परमाणु विज्ञान जैसे ज्ञान प्रधान जटिल विषयों का संग्रह भी इसमें है तो अध्यात्म एवं नीति जैसे भाव प्रधान, सरस, शिक्षाप्रद विषयों की भी इसमें कमी नहीं है।

स्थानांग एवं समवायांग, दोनों ही सूत्रों की संग्रह प्रधान कोष शैली है। और ज्ञान विज्ञान की रोचक एवं बहुविध जानकारी इसमें संकलित है। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय और महाभारत के वनपर्व का १३४वां अध्याय भी इसी प्रकार संख्या प्रधान शैली में है। धवला आदि दिगम्बर ग्रन्थों में भी समवायांग के वर्णन का उल्लेख मिलता है।

प्रस्तुत-पुस्तक

प्रस्तुत पुस्तक "शब्दों की गागर में आगम का सागर" में उक्त तीनों ही आगमों पर तुलनात्मक और विवेचन प्रधान शैली में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म. की प्रेरणा से, आगम समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित होने वाले आचारांग आदि आगमों पर मैंने प्रस्तावनाएं लिखी थीं, वे प्रस्तावनाएं व्यापक अध्ययन तथा शोध पूर्वक अत्यधिक परिश्रम के साथ लिखी गई थीं। पाठकों ने उन प्रस्तावनाओं को पसन्द भी किया और आगम का सम्पूर्ण हार्द प्रकट करने वाली स्वीकारा है। अनेक आगम प्रेमी पाठकों की मांग होने से अब इन तीनों आगमों की प्रस्तावना को यहां पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इन प्रस्तावनाओं में मैंने आगम का मूल स्वरूप, उसकी रचना शैली, रचनाकाल, विषय वस्तु, व्याख्या साहित्य आदि सभी विषयों पर अब तक हुए चिन्तन एवं अनुसंधान के प्रकाश में सारपूर्ण विवेचन किया है। मेरा विश्वास है, विस्तृत और गहन आगमों के पठन से वंचित रहने वाले पाठक भी यदि मनोयोग पूर्वक इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो वे इन तीनों आगमों का नवनीत सहज ही प्राप्त कर सकेंगे। मेरा प्रयत्न रहा है–सागर सम गंभीर एवं विशाल तीनों आगमों का सार शब्दों की गागर में भरकर प्रस्तुत कर दिया जाए जिससे जिज्ञासु पाठक इसे सुविधापूर्वक पढ़ सकें, ग्रहण कर सकें।

इस पुस्तक के प्रकाशन के समय मुझे सर्वप्रथम स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी का पुण्य-स्मरण हो रहा है। जिनकी प्रेरणा से मैंने अत्यधिक मनोयोग पूर्वक इन आगमों पर प्रस्तावनाएं लिखीं। इनकी उपयोगिता शाश्वत है, और सार्वकालिक है।

श्रमण संघ के आचार्य सम्राट परम श्रद्धेय स्व. श्री आनन्द ऋषि जी म. की प्रेरणा और दिशा निर्देश का ही यह सुपरिणाम है कि आगम साहित्य एवं जैन तत्वज्ञान पर समय समय पर मैं साहित्य-सर्जना में लगा रहा। उन महामहिम आचार्य देव का श्रद्धापूर्वक स्मरण मेरे उत्साह को द्विगुणित कर देता है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. का मेरे जीवन-निर्माण में वही योगदान रहा है, जो मिट्टी को कुंभ बनाने में कुंभकार का, और पत्थर को देवता की आकृति देने में मूर्तिकार का होता है। मैं उनके उपकारों का स्मरण करता हुआ ज्येष्ठ भगिनी साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म. तथा अन्य सभी सहयोगी जनों के सहयोग के प्रति कृतज्ञभावेन धन्यवाद देता हूँ।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

श्रीमान् जोधराज जी सुराणा : एक परिचय

भारत के तत्वदर्शी चिन्तकों ने जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि उसी व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ जीवन है जिसमें उदारता, सद्भावना और स्नेह का प्राधान्य है। प्रस्तुत परीक्षण प्रस्तर पर जब हम उदारमना जोधराज जी सुराना का जीवन कसते हैं तो उनका जीवन एक श्रेष्ठ जीवन प्रतीत होता है।

आपका जन्म राजस्थान की गौरवमयी नगरी सोजत में हुआ, जिसका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व रहा है। आपके पूज्य पिता श्री का नाम बच्छराज जी था, जो बहुत ही धर्मपरायण सुश्रावक थे। आपके सम्पतराज जी, मदनराज जी, शुभराज जी और डूंगरचन्द जी –ये चार लघु भ्राता हैं। पाण्डवों की तरह पांच भाइयों की यह जोड़ी दर्शनीय है। सभी में अपार प्यार-स्नेह का साम्राज्य है।

श्रीमान् जोधराज जी में ज्ञान-कर्म और विवेक का समन्वय है। वे धार्मिक हैं। धर्म के प्रति अपार आस्था है। उनका स्वभाव बहुत ही सौम्य है। सरलता-सहजता और सौम्यता उनके सहज गुण हैं। आपकी धर्मपत्नी का नाम अ. सौ. पार्वती बाई है, जो बहुत ही धर्मपरायणा सुश्राविका हैं। तथा आपके सुपुत्र का नाम गौतम कुमार है। पिता के सद्गुण पुत्र में पूर्ण रूप से विकसित हुए हैं।

गौतम कुमार जी की धर्मपत्नी का नाम बिन्दु है तथा सुपुत्र राहुल है।

आपका व्यवसाय केन्द्र तमिलनाडु स्थित सेलम में है। आप साबूदाना के प्रसिद्ध उद्योगपति हैं। आपने समय-समय पर उदारता के साथ धार्मिक कार्यों में अनुदान दिया है, तथा आपके मन में दान दे करके भी उसका अहंकार नहीं है।

परमश्रद्धेय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म., उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म. प्रभृति के प्रति आपकी अपार आस्था है। आचार्य श्री की प्रस्तुत अभिनव कृति के प्रकाशन में आपने उदारता के साथ अनुदान प्रदान किया है, एतदर्थ हम आभारी हैं।

–चुन्नीलाल धर्मावत

अनुक्रम

खण्ड १	
आचारांग सूत्र : एक समग्र दर्शन	१
आचारांग : अन्तरंग दर्शन	१६
आचारांग का व्याख्या साहित्य	२१
आचारांग के सुभाषित वचन	२७
सन्दर्भ स्थल	४३
खण्ड २	
स्थानांग सूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन	४७
स्थानांग : स्वरूप और परिचय	६३
स्थानांग में दार्शनिक विश्लेषण	७४
तुलनात्मक अध्ययन : बौद्ध और वैदिक ग्रन्थ	८३
स्थानांग का व्याख्या साहित्य	८९
स्थानांग के सुभाषित वचन	९१
सन्दर्भ स्थल	१०१
खण्ड ३	
समवायांग सूत्र : अन्तर बाह्य अनुशीलन	१११
समवायांग : तुलनात्मक अध्ययन	१२५
व्याख्या साहित्य	२०१
सन्दर्भ स्थल	२०३

आचारांग सूत्र : एक समग्र दर्शन

आगम का महत्त्व

जैन आगम साहित्य का प्राचीन भारतीय साहित्य में अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। वह स्थूल अक्षर-देह से ही विशाल व व्यापक नहीं है अपितु ज्ञान और विज्ञान का, न्याय और नीति का, आचार और विचार का, धर्म और दर्शन का, अध्यात्म और अनुभव का अनुपम एवं अक्षय कोष है। यदि हम भारतीय-चिन्तन में से कुछ क्षणों के लिए जैन आगम-साहित्य को पृथक करने की कल्पना करें तो भारतीय-साहित्य की जो आध्यात्मिक गरिमा तथा दिव्य और भव्य ज्ञान की चमक-दमक है, वह एक प्रकार से धुँधली प्रतीत होगी और ऐसा परिज्ञात होगा कि हम बहुत बड़ी निधि से वंचित हो जायेंगे।

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, पारसी धर्म में जो स्थान अवेस्ता का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है, इस्लाम में जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम साहित्य का है। वेद अनेक ऋषियों के विमल विचारों के संकलन हैं, वे उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक क्रमशः भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी और विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आगम की परिभाषा

आगम शब्द की आचार्यों ने विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है।[1] अन्य आचार्य का अभिमत है जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।[2] भगवती[3] अनुयोगद्वार[4] और स्थानांग[5] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये हैं। उसमें 'महाभारत' 'रामायण' प्रभृति ग्रन्थों को लौकिक आगम में गिना है और आचारांग, सूत्रकृतांग प्रभृति आगमों को लोकोत्तर आगम कहा गया है।

जैनदृष्टि से जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे जिन तीर्थंकर और सर्वज्ञ हैं, उनका तत्व चिन्तन, उपदेश और उनकी विमल-वाणी आगम है।[6] उसमें वक्ता के

साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की किंचित् मात्र भी संभावना नहीं रहती और न पूर्वापर विरोध वा युक्तिबाध ही होता है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है–"तप, नियम, ज्ञानरूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी केवली भगवान् भव्य-आत्माओं के विबोध के लिये ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट में उन सभी कुसुमों को झेलकर प्रवचन-माला गूँथते हैं।[७]

तीर्थंकर भगवान केवल अर्थरूप ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं।[८] अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा है।[९] प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।[१०]

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्व क्या है ? उत्तर में तीर्थंकर **"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"** इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर जिस आगम साहित्य का निर्माण होता है, वह आगम साहित्य अंगप्रविष्ट के रूप में विश्रुत होता है और अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं, वे सभी अंगबाह्य हैं।[११] द्वादशांगी त्रिपदी से उद्भूत है, इसीलिये वह गणधरकृत भी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएँ अंग नहीं होतीं, त्रिपदी के अभाव में मुक्त व्याकरण से जो रचनाएँ की जाती हैं, भले ही उन रचनाओं के निर्माता गणधर हों अथवा स्थविर हों, वे अंगबाह्य ही कहलायेंगी।

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं या कहते हैं उसमें किंचित् मात्र भी विरोध नहीं होता।

आचार्य संघदासगणी का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते हैं उसको श्रुतकेवली भी उसी रूप में कह सकते हैं।[१२] दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्व को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं तो श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं। उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं कि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।[१३]

अंगप्रविष्ट : अंग बाह्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि 'अंगप्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाया हुआ हो,

गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो और अंगबाह्य-श्रुत वह है जो स्थविरकृत हो और गणधरों के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना ही तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो।[१४]

समवायांग और अनुयोगद्वार में केवल द्वादशांगी का निरूपण हुआ है, पर देववाचक ने नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये हैं। साथ ही अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक–इन आगम साहित्य की शाखा व प्रशाखाओं का भी शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।[१५] उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में अंग-उपांग-मूल और छेद के रूप में आगमों का विभाग किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को मेरे द्वारा लिखित "जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा" ग्रन्थ अवलोकनार्थ नम्र सूचना है।

चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो और चाहे दिगम्बर परम्परा हो, अंगप्रविष्ट आगम साहित्य में द्वादशांगी का निरूपण किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

१. आचारांग	७. उपासकदशा
२. सूत्रकृतांग	८. अन्तकृत्दशा
३. स्थानांग	९. अनुत्तरौपपातिकदशा
४. समवायांग	१०. प्रश्नव्याकरण
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	११. विपाक
६. ज्ञाता धर्मकथा	१२. दृष्टिवाद

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंगसाहित्य विच्छिन्न हो चुका है, केवल दृष्टि-वाद का कुछ अंश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है। पर श्वेताम्बर दृष्टि से पूर्व साहित्य विच्छिन्न हो गया है, जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य में से निर्यूढ आगम आज भी विद्यमान हैं। जैसे आचारचूला[१६], दशवैकालिक[१७], निशीथ[१८], दशाश्रुतस्कन्ध[१९], बृहत्कल्प[२०], व्यवहार[२१], उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन[२२] आदि। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव हैं और शेष आगमों के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं जो श्रुतकेवली के रूप में विश्रुत हैं। आगम विच्छिन्न होने का मूल कारण भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल आदि रहे हैं, क्योंकि उस समय आगम लेखन की परम्परा नहीं थी। आगम लेखन को दोषरूप माना जाता था। वर्तमान में जो आगम पुस्तक रूप में उपलब्ध हो रहे हैं, उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है। जिनका समय वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी है।

आचारांग का महत्व

अंग साहित्य में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। क्योंकि संघ-व्यवस्था में सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। श्रमण-जीवन की

साधना का जो मार्मिक विवेचन आचारांग में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है–मुक्ति का अव्याबाध सुख सम्प्राप्त करने का मूल आचार है। अंगों का सार तत्व आचार में रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से आचार सम्पूर्ण प्रवचन की आधारशिला है।

एक जिज्ञासा प्रस्तुत की, अंग सूत्रों का सार आचार है तो आचार का सार क्या है? आचार्य ने समाधान की भाषा में कहा–आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है, प्ररूपणा का सार सम्यक् चारित्र और सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है; निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है।[२३] इस प्रकार आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है। उससे आत्मा पर लगा हुआ अनन्तकाल का कर्म-मल छँट जाता है।

तीर्थंकर प्रभु तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ में आचारांग के अर्थ का प्ररूपण करते हैं और गणधर उसी क्रम से सूत्र की रचना करते हैं। अतः अतीत काल में प्रस्तुत आगम का अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। आचारांग का अध्ययन किये बिना सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य का अध्ययन नहीं किया जा सकता था।[२४] जिनदास महत्तर ने लिखा है–आचारांग का अध्ययन करने के बाद ही धर्माकथानुयोग,गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए।[२५] यदि कोई साधक आाचारांग को बिना पढ़े अन्य आगम-साहित्य का अध्ययन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[२६] व्यवहारभाष्य में वर्णन है कि आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित श्रमण की उपस्थापना की जाती थी और उसके अध्ययन से ही श्रमण भिक्षा लाने के लिए योग्य बनता था।[२७] आचारांग का अध्ययन किये बिना कोई भी श्रमण आचार्य जैसे गौरव-गरिमायुक्त पद को प्राप्त नहीं कर सकता था।[२८] गणि बनने के लिए आचारधर होना आवश्यक है। आचारांग को जैन दर्शन का वेद माना है। भद्रबाहु आदि ने आचारांग के महत्व के सम्बन्ध में जो अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं, वे आचारांग की गौरव-गरिमा का दिग्दर्शन हैं।

आचारांग की प्राथमिकता

प्राचीन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट है कि द्वादशांगी में आचारांग प्रथम है, पर वह रचना की दृष्टि से प्रथम है या स्थापना की दृष्टि से ? इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। नन्दी चूर्णी में आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सूचित किया है कि जब तीर्थंकर भगवान् तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं उस समय वे पूर्वगत सूत्र का अर्थ सर्वप्रथम कहते हैं। एतदर्थ ही वह पूर्व कहलाता है। किन्तु जब सूत्र की रचना करते हैं तो 'आचारांग-सूत्रकृतांग' आदि आगमों की रचना करते हैं और उसी तरह वे स्थापना भी करते हैं। अतः अर्थ की दृष्टि से पूर्व सर्वप्रथम हैं, किन्तु सूत्र-रचना और स्थापना की दृष्टि से आचारांग सर्वप्रथम है।[२९] इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र[३०] तथा आचार्य अभयदेव ने भी किया है।[३१]

आचारांग चूर्णी में लिखा है कि जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे आचारांग का अर्थ सर्वप्रथम कहते हैं और उसके बाद ग्यारह अंगों का अर्थ कहते हैं। और उसी क्रम से गणधर भी सूत्र की रचना करते हैं।[३२]

आचार्य शीलाङ्क का भी यही अभिमत है कि तीर्थंकर आचारांग के अर्थ का प्ररूपण ही सर्वप्रथम करते हैं और गणधर भी उसी क्रम से स्थापना करते हैं।[३३] समवायांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने यह भी लिखा है कि आचारांग-सूत्र स्थापना की दृष्टि से प्रथम है किन्तु रचना की दृष्टि से वह बारहवाँ है।[३४]

पूर्व साहित्य से अंग निर्यूढ़ हैं, इस दृष्टि से आचारांग को स्थापना की दृष्टि से प्रथम माना है पर रचना क्रम की दृष्टि से नहीं। आचार्य हेमचन्द्र[३५] और गुणचन्द्र[३६] ने, जिन्होंने भगवान महावीर के जीवन की पवित्र गाथाएँ अंकित की हैं, उन्होंने लिखा है कि भगवान महावीर ने गौतम प्रभृति गणधरों को सर्वप्रथम त्रिपदी का ज्ञान प्रदान किया और उन्होंने त्रिपदी से प्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और उसके बाद द्वादशांगी की रचना की।

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अंगों से पहले पूर्वों की रचना हुई तो द्वादशांगी की रचना में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार है ? समाधान है; पूर्वों की रचना प्रथम होने पर भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान मानने पर बाधा नहीं आती है। कारण कि बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका ये पांच विभाग हैं। उन में से एक विभाग पूर्व है।[३७] सर्वप्रथम गणधरों ने पूर्वों की रचना की, पर बारहवें अंग दृष्टिवाद का बहुत बड़े हिस्से का ग्रन्थन तो आचारांग आदि के क्रम से बारहवें स्थान पर ही हुआ है। ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है कि दृष्टिवाद का ग्रन्थन सर्वप्रथम किया हो, इसलिये निर्युक्तिकार का यह कथन कि आचारांग रचना व स्थापना की दृष्टि से प्रथम है, युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आचारांग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए चूर्णिकार[३८] और वृत्तिकार[३९] ने लिखा है कि अतीत काल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सभी ने सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश दिया, वर्तमान में जो तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र में विराजित हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और भविष्यकाल में जितने भी तीर्थंकर होंगे वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे।

आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने का कारण यह है कि संघ-व्यवस्था की दृष्टि से आचार-संहिता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। जब तक आचार- संहिता की स्पष्ट रूप-रेखा न हो वहाँ तक सम्यक् प्रकार से आचार का पालन नहीं किया जा सकता। अतः किसी का भी आचारांग की प्राथमिकता के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। यहाँ तक कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने अंग साहित्य में आचारांग को

सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचारांग में विचारों के ऐसे मोती पिरोये गये हैं जो प्रबुद्ध पाठकों के दिल को लुभाते हैं, मन को मोहते हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त शैली में लिखित सूत्रों का अर्थरूपी शरीर विराट् है, जब हम आचारांग के व्याख्या-साहित्य को पढ़ते हैं तो स्पष्ट परिज्ञात होता है कि सूत्रीय शब्द-बिन्दु में अर्थ-सिन्धु समाया हुआ है। एक-एक सूत्र पर, और एक-एक शब्द पर विस्तार से ऊहापोह किया गया है। इतना चिन्तन किया गया है कि ज्ञान की निर्मल गंगा बहती हुई प्रतीत होती है। श्रमणाचार का सूक्ष्म विवेचन और इतना स्पष्ट चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने कहा है **"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्"** आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है, और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है। आचारांग में बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के आचार का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

आचारांग का विषय

पूर्व पंक्तियों में यह बताया है कि आचारांग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय "आचार" है। समवायांग[४०] और नन्दीसूत्र[४१] में आचारांग में आये हुए विषय का संक्षेप में निरूपण इस प्रकार है–

आचार-गोचर, विनय, वैनयिक (विनय का फल), उत्थितासन, णिषण्णासन और शयितासन, गमन, चंक्रमण, अशन आदि की मात्रा, स्वाध्याय प्रभृति में योग नियुञ्जन, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्तपान, उद्गम-उत्थान, एषणा प्रभृति की शुद्धि, शुद्धाशुद्ध के ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि।

आचारांग-निर्युक्ति में[४२] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों का सार संक्षेप में इस प्रकार है–

(१) जीव-संयम, जीवों के अस्तित्व का प्रतिपादन और उनकी हिंसा का परित्याग।

(२) किन कार्यों के करने से जीव कर्मों से आबद्ध होता है और किस प्रकार की साधना करने से जीव कर्मों से मुक्त होता है।

(३) श्रमण को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग समुपस्थित होने पर सदा समभाव में रहकर उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए।

(४) दूसरे साधकों के पास अणिमा, गणिमा, लघिमा आदि लब्धियों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य को निहार कर साधक सम्यक्त्व से विचलित न हों।

(५) इस विराट् विश्व में जितने भी पदार्थ हैं वे निस्सार हैं, केवल सम्यक्त्व रत्न ही सार रूप है। उसे प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करें।

(६) सद्गुणों को प्राप्त करने के पश्चात् श्रमणों को किसी भी पदार्थ में आसक्त बन कर नहीं रहना चाहिये।

(७) संयम-साधना करते समय यदि मोह-जन्य उपसर्ग उपस्थित हों तो सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिये। पर साधना से विचलित नहीं होना चाहिये।

(८) सम्पूर्ण गुणों से युक्त अन्तक्रिया की सम्यक् प्रकार से आराधना करनी चाहिये।

(९) जो उत्कृष्ट संयम-साधना, तपःआराधना भगवान् महावीर ने की, उसका प्रतिपादन किया गया है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं। चार चूलिकाओं से युक्त द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं, इस तरह कुल पच्चीस अध्ययन हैं। आचारांग निर्युक्ति में जो अध्ययनों का क्रम निर्दिष्ट है, वह समवायांग के अध्ययन-क्रम से पृथक्ता लिये हुए है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनों का क्रम इस प्रकार है–

आचारांग निर्युक्ति[४३]	समवायांग[४४]
१. सत्थपरिण्णा	१. सत्थपरिण्णा
२. लोगविजय	२. लोकविजय
३. सीओसणिज्ज	३. सीओसणिज्ज
४. सम्मत्त	४. सम्मत्त
५. लोगसार	५. आवन्ती
६. धुत	६. धुत
७. महापरिण्णा	७. विमोहायण
८. विमोक्ख	८. उवहाणसुय
९. उवहाणसुय	९. महापरिण्णा

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में समवायांग के क्रम का ही अनुसरण किया है। पाँचवें अध्ययन के दो नाम प्राप्त होते हैं–लोकसार और आवन्ती ! आचारांग-वृत्ति से यह परिज्ञात होता है कि उन्हें ये दोनों नाम मान्य थे।[४५] आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ अध्ययन माना है।[४६] और चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इन दोनों ने भी आचारांग निर्युक्ति के मत को मान्य किया है।[४७] परन्तु स्थानांग[४८] समवायांग[४९] और प्रशमरति प्रकरण[५०] में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ न मानकर नवम अध्ययन माना है।

आवश्यक निर्युक्ति तथा प्रभावकचरित आदि ग्रन्थों के आधार से यह स्पष्ट है कि वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से ही आकाशगामिनीविद्या प्राप्त की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि वज्रस्वामी के समय तक महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था।

किन्तु आचारांग वृत्तिकार के समय में महापरिज्ञा अध्ययन नहीं था। विज्ञों का अभिमत है कि चूर्णिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन अवश्य रहा होगा पर उसके पठन-पाठन का क्रम बन्द कर दिया गया होगा।

आचारांग निर्युक्ति में आठवें अध्ययन का नाम "**विमोक्खो**" है तो समवायांग में उसका नाम "**विमोहायतन**" है। आचारांग में चार स्थलों पर "विमोहायतन" शब्द व्यवहृत हुआ है। जिससे प्रस्तुत अध्ययन का नाम "विमोहायतन" रखा है या विमोक्ष की चर्चा होने से विमोक्ष कहा गया हो।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार चूलायें हैं उनमें प्रथम और द्वितीय चूला में सात-सात अध्ययन हैं, तृतीय और चतुर्थ चूला में एक-एक अध्ययन है। चूर्णिकार की दृष्टि से **रुवसत्तिक्कय** यह द्वितीय चूला का चतुर्थ अध्ययन है; और **सद्दसत्तिक्कयं** यह पाँचवाँ अध्ययन है।

आचारांग सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में और आचारांग की शीलांकवृत्ति में तथा प्रशमरति ग्रन्थ में **सद्दसत्तिक्कय** के पश्चात् **रुवसत्तिक्कय**–इस प्रकार का क्रम सम्प्राप्त होता है।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति, तत्त्वार्थराजवर्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के माननीय ग्रन्थों में आचारांग का जो परिचय प्रदान किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग में मन, वचन, काया, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन और विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पूर्ण रूप से यह वर्णन प्राप्त होता है।

आचारांग का पद प्रमाण

आचारांगनिर्युक्ति[५१] हारिभद्रीयानन्दीवृत्ति[५२] नन्दीसूत्रचूर्णि[५३] और आचार्य अभयदेव की समवायांगवृत्ति[५४] में आचारांग सूत्र का परिमाण १८ हजार पद निर्दिष्ट है। पर, प्रश्न यह है कि पद क्या है? जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[५५] ने पद के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि पद अर्थ का वाचक और द्योतक है। बैठना, बोलना, अश्व, वृक्ष आदि पद वाचक कहलाते हैं। प्र, परि, च, वा आदि अव्यय पदों के द्योतक कहे जाते हैं। पद के नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक और मिश्र आदि प्रकार हैं। अनुयोगद्वार वृत्ति[५६] दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी[५७] दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति[५८] आचारांग शीलांक वृत्ति[५९] में उदाहरण सहित पद का स्वरूप प्रतिपादित किया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने[६०] पद की व्याख्या करते हुए लिखा है– 'अर्थ समाप्ति का नाम पद है।' पर आचारांग आदि में अठारह हजार पद बताये गए हैं। किन्तु पद के परिमाण के सम्बन्ध में परम्परा का अभाव होने से पद का सही स्वरूप जानना कठिन है। प्राचीन टीकाकारों ने भी स्पष्ट रूप से कोई समाधान नहीं किया है।

जयधवला में प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यमपद–पद के ये तीन प्रकार बताये गये हैं। आठ अक्षरों वाला प्रमाण पद है। चार प्रमाण पदों का एक श्लोक या गाथा होती है। जितने अक्षरों से अर्थ का बोध हो वह अर्थपद है। १६३४८३०७८८८ अक्षरों वाला मध्यम पद कहलाता है। जयधवला का अनुसरण ही धवला, गोम्मटसार, अंगपण्णत्ती में हुआ है। प्रस्तुत दृष्टि से आचारांग के अठारह हजार पदों के अक्षरों की संख्या की परिगणना २९४२६९५४११९८४००० होती है। और अठारह हजार पदों के श्लोकों की संख्या ९१९५९२२३११८७०००बताई गई है।

यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पद-परिमाण प्रतिपादित किया गया है उसमें काल की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। वर्तमान में जो आचारांग उपलब्ध है उस में कितनी ही प्रतियों में दो हजार छः सौ चमालीस श्लोक प्राप्त होते हैं तो कितनी ही प्रतियों में दो हजार चार सौ चोपन, तो कितनी ही प्रतियों में दो हजार पाँच सौ चोपन भी मिलते हैं। यदि हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के उजाले की भाँति यह ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा कि जैन आगम-साहित्य के साथ ही यह बात नहीं हुई है किन्तु बौद्ध त्रिपिटिक–मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, संयुक्तनिकाय में जो सूत्र संख्या बताई गई है वह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। वही बात वैदिक परम्परा मान्य ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और पुराण-साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मैं चाहूँगा कि आगम के मूर्धन्य मनीषी गण इस सम्बन्ध में प्रमाण पुरस्सर तर्कयुक्त समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि समवायांग और नन्दी सूत्र में आचारांग की जो अठारह हजार पद-संख्या बताई है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों की है, यह बात आचार्य भद्रबाहु और अभयदेवसूरि ने पूर्ण रूप से स्पष्ट की है। यह हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि महापरिज्ञा अध्ययन चूर्णिकार के पश्चात् विच्छिन्न हो गया है। यह सत्य है कि आचार्य शीलांक के पहले उस का विच्छेद हुआ है। ऐसी अनुश्रुति है कि महापरिज्ञा अध्ययन में ऐसे अनेक चामत्कारिक मन्त्र आदि विद्याएँ थीं जिस के कारण गम्भीर पात्र के अभाव में उस का पठन-पाठन बन्द कर दिया गया। पर, प्रस्तुत अनुश्रुति के पीछे ऐतिहासिक प्रबल-प्रमाण का अभाव है। निर्युक्तिकार का ऐसा अभिमत है कि आचार-चूला के सातों अध्ययन महापरिज्ञा के सात उद्देशकों से निर्यूढ़ किये गये हैं।[६१] इससे यह स्पष्ट है कि महापरिज्ञा में जिन-विषयों पर चिन्तन किया गया, उन्हीं विषयों पर सातों अध्ययनों में चिन्तन-निर्यूढ़ किया गया हो। मनीषियों का ऐसा भी मानना है कि महापरिज्ञा से उद्धृत सातों अध्ययन पठन-पाठन में व्यवहृत होने लगे। तब महापरिज्ञा अध्ययन का पठन-पाठन बन्द हो गया होगा अथवा उसके अध्ययन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की जाने लगी होगी। जिससे वह विच्छिन्न हुआ।

आचारांग के नाम

आचारांग निर्युक्ति में आचारांग के पर्यायवाची दश नाम प्राप्त होते हैं।[६२]

१. **आयार**–यह आचरणीय का प्रतिपादन करने वाला है। एतदर्थ आचार है।

२. **आचाल**–यह निविड बंध को आचालित (चलित) करता है अतः आचाल है।

३. **आगाल**–चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है अतः आगाल है।

४. **आगर**–यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नों को पैदा करने वाला है अतः आगर है।

५. **आसास**–यह संत्रस्त चेतना को आश्वासन प्रदान करने में सक्षम है, अतः आश्वास है।

६. **आयरिस**–इसमें इतिकर्तव्यता का स्वरूप देख सकते हैं अतः यह आदर्श है।

७. **अङ्ग**–यह अन्तस्तल में अहिंसा आदि जो भाव रहे हुए हैं, उनको व्यक्त करता है अतः अंग है।

८. **आइण्ण**–प्रस्तुत आगम में आचीर्ण धर्म का निरूपण किया गया है अतः यह आचीर्ण है।

९. **आजाइ**–इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है अतः आजाति है।

१०. **आमोक्ख**–बन्धन-मुक्ति का यह साधन है अतः आमोक्ष है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने[६३] लिखा है कि शिष्यों के अनुग्रहार्थ श्रमणाचार के गुरुतम रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये आचारांग की चूलाओं का आचार में से निर्यूहण किया गया है। किस-किस अध्ययन को कहाँ-कहाँ से निर्यूढ किया है उसका उल्लेख आचारांग चूर्णी में[६४] भी और आचारांग वृत्ति[६५] में भी प्राप्त होता है। वह तालिका इस प्रकार है–

निर्यूहण-स्थल आचारांग		निर्यूढ अध्ययन आचार चूला
अध्ययन	उद्देशक	अध्ययन
२	५	१, २,५, ६, ७
८	२	१, २, ५, ६, ७
५	४	३
६	५	४
७	१-७	१८-४
१		१५
६	२-४	१६

प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवाँ प्राभृत।

आचार–प्रकल्प (निशीथ)

आचारांग निर्युक्ति में केवल निर्यूहण स्थल के अध्ययन और उद्देशकों का संकेत किया है। कहीं-कहीं पर चूर्णिकार[६६] और वृत्तिकार[६७] ने निर्यूहण सूत्रों का भी संकेत किया है।

निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में जिन निर्देशों का सूचन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि आचार चूला आचारांग से उद्धृत नहीं है अपितु आचारांग के अति संक्षिप्त पाठ का विस्तार पूर्वक वर्णन है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि आचारांग निर्युक्ति से भी होती है।[६८] आचाराग्र में जो अग्र शब्द आया है वह वहाँ पर उपकाराग्र के अर्थ में है। आचारांग चूर्णी में उपकाराग्र का अर्थ पूर्वोक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला होता है। आचाराग्र में आचारांग के जिस अर्थ का प्रतिपादन है, उस अर्थ का उसमें विस्तार तो है ही, साथ ही उसमें अप्रतिपादित अर्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए उसको आचार में प्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांग के रचयिता

आचारांग के प्रथम वाक्य से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर महावीर थे और सूत्र के रचयिता पंचम गणधर सुधर्मा। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् अर्थ रूप में जब देशना प्रदान करते हैं तो प्रत्येक गणधर अपनी भाषा में सूत्रों का निर्माण करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे और नौ गण थे। ग्यारह गणधरों में आठवें और नौवें तथा दशवें और ग्यारहवें गणधरों की वाचनायें सम्मिलित थीं जिस के कारण नौ गण कहलाये। भगवान् महावीर के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष गणधरों का निर्वाण हो चुका था। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जिसके कारण वर्तमान में जो अंग-साहित्य उपलब्ध है वह सुधर्मा स्वामी की देन है।

आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम आचार या ब्रह्मचर्य तथा नव ब्रह्मचर्य ये नाम उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य नाम तो है ही। किन्तु नौ अध्ययन होने से नव ब्रह्मचर्य के नाम से भी वह प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रसिद्ध है। विज्ञों की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित ही है किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वह स्थविरकृत है।[६९] स्थविर का अर्थ चूर्णीकार ने गणधर किया है[७०]। और आचार्य शीलांक ने चतुर्दशपूर्वविद् किया है[७१]। किन्तु स्थविर का नाम उल्लिखित नहीं है। यह माना जाता है प्रथम श्रुतस्कन्ध के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का अर्थ आचाराग्र में प्रविभक्त किया।

सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि पाँचों चूलाओं के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति हैं ? क्योंकि आचारांग निर्युक्ति में स्थविर शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है[७२] जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके रचयिता अनेक व्यक्ति होने चाहिये। समाधान है कि 'स्थविर' शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है वह सम्मान का प्रतीक है। पाँचों चूलाओं के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

आचारांग चूर्णि में वर्णन है कि स्थूलिभद्र की बहन साध्वी यक्षा महाविदेह-क्षेत्र में भगवान् सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ गयी थीं। लौटते समय भगवान् ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन दिये।[७३] आचार्य हेमचन्द्र ने[७४] परिशिष्ट पर्व में यक्षा साध्वी के प्रसंग का चित्रण करते हुए लिखा है कि भगवान् सीमंधर ने भावना और विमुक्ति, रतिवाक्या (रतिकल्प) और विविक्तचर्या–ये चार अध्ययन प्रदान किये। संघ ने दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप में और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप में स्थापित किये। आवश्यक चूर्णि में दो अध्ययनों का वर्णन है–तो परिशिष्ट-पर्व में चार अध्ययनों का उल्लेख है। आचार्य हेमचन्द्र ने दो अध्ययनों का समर्थन किस आधार से किया है ? आचारांग-निर्युक्ति और दशवैकालिक-निर्युक्ति में प्रस्तुत घटना का कोई संकेत नहीं है। फिर वह आवश्यक-चूर्णि में किस प्रकार आ गयी? यह शोधार्थी के लिये अन्वेषणीय है।

कितने ही निष्ठावान् विज्ञों का अभिमत है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता गणधर सुधर्मा ही हैं क्योंकि समवायांग और नन्दी में आचारांग का जो परिचय है उससे स्पष्ट है कि वह परिशिष्ट के रूप में बाद में जोड़ा हुआ नहीं है।

निर्युक्तिकार ने जो आचारांग का पद-परिमाण बताया है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का है। पाँच चूलाओं सहित आचारांग की पद संख्या बहुत अधिक है। निर्युक्तिकार के प्रस्तुत कथन का समर्थन नन्दी चूर्णि और समवायांग वृत्ति में किया गया है। पर एक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि आचारांग के समान अन्य आगमों में भी दो श्रुतस्कन्ध हैं पर उन आगमों में प्रथम श्रुतस्कन्ध की और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पद संख्या कहीं पर भी अलग-अलग नहीं बतायी है। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का पद-परिमाण किस आधार से दिया है? इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार व चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मौन हैं। धवला और अंगपण्णत्ति जो दिगम्बर परम्परा के माननीय-ग्रन्थ हैं, इन में आचारांग की पद-संख्या भी श्वेताम्बर ग्रन्थों की तरह अठारह हजार बतायी है। उन्होंने जिन विषयों का निरूपण किया है वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रतिपादित विषयों के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं।

समवायांग और नन्दी में, दृष्टिवाद में चौदह पूर्वों में चार पूर्वों के अतिरिक्त किसी भी अंग की चूलिकाएँ नहीं बतायी हैं। जबकि प्रत्येक अंग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, पद और अक्षरों तक की संख्या का निरूपण है। वहाँ पर चार

पूर्वों की चूलिकाएँ बतायी हैं किन्तु आचारांग की चूलिकाओं का निर्देश नहीं है। इस से यह स्पष्ट होता है कि चार पूर्वों के अतिरिक्त अन्य किसी भी आगम की चूलिकायें नहीं थीं।

आचारांग और आचार प्रकल्प ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि आचारांग कहीं से भी निर्यूढ़ नहीं किया गया है, जबकि आचार-प्रकल्प प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु आचार-नामक बीसवें प्राभृत से उद्धृत है। यह बात निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में स्पष्ट रूप से आयी है और यह बहुत ही स्पष्ट है कि साध्वाचार के लिए महान उपयोगी होने से चूला न होने पर भी चूला के रूप में उसे स्थान दिया गया है। समवायांग-सूत्र में "**आयारस्स भगवओ सचूलियागस्स**" यह पाठ आता है। संभव है पाठ में चूलिका शब्द का प्रयोग होने के कारण सन्देह-प्रद स्थिति उत्पन्न हुई हो। जिससे पद संख्या और चूलिका के सम्बन्ध में आचारांग के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के रूप में आचारांग से भिन्न आचारांग की चूलिकायें आचाराग्र और आचारांग का परिशिष्ट मानने की निर्युक्तिकार आदि को कल्पना करनी पड़ी हो।

यह स्पष्ट है कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा बिलकुल पृथक् है, जिसके कारण चिन्तकों में यह धारणा बनी हुई है कि दोनों के रचयिता पृथक-पृथक व्यक्ति हैं। पर आगम के प्रति जो अत्यन्त निष्ठावान हैं, उनका अभिमत है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में तात्विक-विवेचन की प्रधानता होने से सूत्र-शैली में उसकी रचना की गयी है। जिसके कारण उसके भाव-भाषा और शैली में क्लिष्टता आयी है और द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में साधना के रहस्य को व्याख्यात्मक दृष्टि से समझाया गया है। इसलिए उसकी शैली बहुत ही सुगम और सरल रखी गयी है। आधुनिक युग में कितने ही लेखक जब दार्शनिक पहलुओं पर चिन्तन करते हैं उस समय उनकी भाषा का स्तर अलग होता है और जब वे बाल-साहित्य का लेखन करते हैं उस समय उनकी भाषा पृथक् होती है। उसमें वह लालित्य नहीं होता और न वह गम्भीरता ही होती है। यही बात प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

सभी मूर्धन्य मनीषियों ने इस सत्य को एक स्वर से स्वीकारा है कि आचारांग सर्वाधिक प्राचीन आगम है। उसमें जो आचार का विश्लेषण हुआ है वह अत्यधिक मौलिक है।

रचना शैली

आचारांग सूत्र में गद्य और पद्य दोनों ही शैलियों का सम्मिश्रण है। गद्य का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। दशवैकालिक चूर्णि में[७५] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गद्य के विभाग में रखा है। उसकी शैली चौर्ण पद मानी है। आचार्य हरिभद्र ने भी यही मत व्यक्त किया है।[७६] आचार्य भद्रबाहु ने चौर्ण पद की व्याख्या करते हुए

लिखा है "जो अर्थबहुल, महार्थ हेतु-निपात और उपसर्ग से गम्भीर बहुपाद अव्यवच्छिन्न गम और नय से विशुद्ध होता है वह चौर्णपद है।"[७७]

प्रस्तुत परिभाषा में बहुपाद शब्द आया है जिसका अर्थ है पाद का अभाव। जिसमें केवल गद्य ही होता है। पर चौर्ण वह है जिसमें गद्य के साथ बहुपाद (चरण) भी होते हैं। आचारांग सूत्र में गद्य के साथ पद्य भी है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आठवें अध्ययन का आठवां उद्देशक और नवम अध्ययन पद्य रूप में हैं। शेष छः अध्ययनों में पन्द्रह पद्य तो स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। टीकाकार ने जहाँ-जहाँ पर पद्य हैं उसका सूचन किया है। केवल ७८ और ७९ उन दो श्लोकों का उल्लेख टीका में नहीं है। तथापि मुनि श्री जम्बूविजयजी ने उसे पद्य रूप में दिये हैं। ९९ सूत्र पद्यात्मक हैं ऐसा सूचन अनेक स्थलों पर हुआ है। तथापि उसमें छन्द की दृष्टि से कुछ न्यूनता है। आचारांग में ऐसे अनेक स्थल पद्य रूप में प्रतीत होते हैं पर वे गद्य-रूप में ही आचारांग में व्यवहृत हैं। मनीषियों का मत है कि मूल में वे पद्य होंगे किन्तु आज वे पद्य रूप में व्यवहृत नहीं हैं। कितने ही वाक्यों को हम गद्य रूप में भी पढ़कर आनन्द ले सकते हैं और पद्य-रूप में भी। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अधिकांश भाग गद्य रूप में है। पन्द्रहवें अध्ययन में अठारह पद्य प्राप्त होते हैं और सोलहवाँ अध्ययन पद्य रूप में है। वर्तमान में आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में १४६ पद्य उपलब्ध हैं। समवायांग और नन्दीसूत्र में जो आचारांग का परिचय उपलब्ध है उसमें संख्येय वेष्टक और संख्येय श्लोक बताये हैं।

डाक्टर शुब्रिंग ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पद्यों की तुलना बौद्ध त्रिपिटक–सुत्तनिपात के साथ की है। आचारांग के पद्य विविध छन्दों में उपलब्ध होते हैं। उसमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालिय, अनुष्टुप, श्लोक आदि विविध छन्द हैं। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाएं पूर्ण गद्य में हैं, तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर के दान-प्रसंग में छः आर्याओं का प्रयोग हुआ है, दीक्षा, शिविका में आसीन होकर प्रस्थान करने का वर्णन ग्यारह आर्याओं में है और जिस समय दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय जन-मानस का चित्रण भी दो आर्याओं में किया गया है। महाव्रतों की भावनाओं का वर्णन अनुष्टुप् छन्दों में किया गया है। चतुर्थ चूलिका में जो पद्य हैं वे उपजाति प्रतीत होते हैं। सुत्तनिपात के आमगन्ध सुत्त में इस तरह के छन्द के प्रयोग दृग्गोचर होते हैं।

आचारांग की भाषा

सामान्य रूप से जैन आगमों की भाषा अर्ध मागधी है, यद्यपि जैन परम्परा का ऐतिहासिक-दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होगा कि जैन-परम्परा ने भाषा पर इतना बल नहीं दिया है, उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि मात्र भाषा ज्ञान से न तो मानव की चित्त-शुद्धि हो सकती है और न आत्म-विकास ही हो सकता है। चित्त-विशुद्धि का मूल कारण सद्विचार है। भाषा विचारों का वाहन है,

इसलिए जैन मनीषीगण संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य प्रान्तीय भाषाओं को अपनाते रहे हैं और उनमें विपुल-साहित्य का भी सृजन करते रहे हैं। यही कारण है– आचारांग सूत्र की भाषा-शैली में भी परिवर्तन हुआ है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा बहुत ही गठी हुई सूत्रात्मक है तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा कुछ शिथिल और व्यास-प्रधान है।

यह स्पष्ट है कि भाषा के स्वरूप में परिवर्तन होता आया है। आचार्य हेमचन्द्र ने आगमों की भाषा को आर्ष-प्राकृत कहा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वैदिक परम्परा में ऋषियों के शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया गया किन्तु अर्थ की सुरक्षा पर उतना बल नहीं दिया गया है जिसके फलस्वरूप वेदों के शब्द प्रायः सुरक्षित हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से विज्ञों में पर्याप्त मत-भेद है। वैदिक विज्ञों ने आज दिन तक शब्दों की सुरक्षा के लिए बहुत ही प्रयास किया है पर अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष प्रयास नहीं हुआ। पर जैन परम्परा ने शब्द की अपेक्षा अर्थ पर विशेष बल दिया है इस कारण पाठ-भेद तो मिलते हैं, किन्तु अर्थ-भेद नहीं मिलता। आचारांग सूत्र में भी पाठ-भेद की एक लम्बी परम्परा है। विभिन्न प्रतियों में एक ही पाठ के विविध रूप मिलते हैं। विशेष जिज्ञासु शोधकर्ताओं को मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित आचारांग-सूत्र के अवलोकन की मैं प्रेरणा करता हूँ। प्रस्तुत सम्पादन में भी महत्वपूर्ण पाठान्तर और उनकी भिन्न अर्थवत्ता का सूचन कर नई दृष्टि दी है। विस्तार-भय से उनकी चर्चा मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ। पाठक स्वयं इसे पढ़कर लाभ उठायें। हाँ एक बात और है कि वेद के शब्दों में मन्त्रों का आरोपण किया गया, जिससे वेद के मन्त्र सुरक्षित रह गये। पर जैनागमों में मन्त्र-शक्ति का आरोपण न होने से अर्थ सुरक्षित रहा है, पर शब्द नहीं।

जैन आगमों की भाषा में परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि जैन आगम प्रारम्भ में लिखे नहीं गये थे। सुदीर्घकाल तक कण्ठस्थ करने की परम्परा रही। समय-समय पर द्वादश वर्षों के दुष्कालों ने आगम के बहुत अध्याय विस्मृत करा दिये। उनकी संयोजना के लिए अनेक वाचनाएँ हुईं। वीर निर्वाण ९८० में वल्लभीपुर नगर में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगमों को लिपिबद्ध किया गया। उसके पश्चात् आगमों का निश्चित-रूप स्थिर हो गया।

● ●

卐

आचारांग : अन्तरंग दर्शन

दार्शनिक विषय

आचारांग सूत्र में जैनदर्शन के मूलभूत तत्त्व गर्भित हैं, आचारांग के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। उस युग के अन्य दार्शनिकों के विचारों से श्रमण भगवान महावीर की विचारधारा अत्यधिक भिन्न थी। पाली-पिटकों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर के समय अन्य अनेक श्रमण परपराएँ भी थीं। उन श्रमणों की विचारधारा क्रियावादी, अक्रियावादी के रूप में चल रही थीं। जो कर्म और उसके फल को मानते थे वे क्रियावादी थे। उसे जो नहीं मानते थे वे अक्रियावादी थे। भगवान महावीर और तथागत बुद्ध ये दोनों ही क्रियावादी थे। पर इन दोनों के क्रियावाद में अन्तर था। तथागत बुद्ध ने क्रियावाद को स्वीकार करते हुए भी शाश्वत आत्मवाद को स्वीकार नहीं किया। जबकि भगवान महावीर ने आत्मवाद की मूल भित्ति पर ही क्रियावाद का भव्य-भवन खड़ा किया है। जो आत्मवादी है, वह लोकवादी है और जो लोकवादी है, वह कर्मवादी है, जो कर्मवादी है वह क्रियावादी है।[७८] इस प्रकार भगवान महावीर का क्रियावाद तथागत बुद्ध से पृथक् है। कर्मवाद को प्रधानता देने के कारण ईश्वर, ब्रह्म आदि से संसार की उत्पत्ति नहीं मानी गई। सृष्टि अनादि है, अतएव उसका कोई कर्ता नहीं है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा–जब तक कर्म है, आरम्भ-समारम्भ है, हिंसा है, तब तक संसार में परिभ्रमण है, कष्ट है।[७९]

जब आत्मा कर्म-समारम्भ का पूर्ण रूप से परित्याग करता है, तब उसके संसार-परिभ्रमण की परम्परा रुक जाती है। श्रमण वही है जिसने कर्म-समारम्भ का परित्याग किया है।[८०] कर्म-समारम्भ का निषेध करने का मूल कारण यह है कि इस विराट्-विश्व में जितने भी जीव हैं उन्हें सुख प्रिय है, कोई भी जीव दुःखों की इच्छा नहीं करता।[८१] अन्य जीवों को जो दुःख का निमित्त बनता है वही कर्म है, हिंसा है। यह जानना आवश्यक है कि जीव कौन है और कहाँ पर है? आचारांग में जीव-विद्या को लेकर गहराई से चिन्तन हुआ है, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायुकाय इन जीवों का परिचय कराया गया है[८२] । यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य आगम साहित्य में वायु को पाँच स्थावरों के साथ गिना है, पर यहाँ पर त्रसकाय के पश्चात्; यह किस अपेक्षा से अतिक्रम हुआ है, यह चिन्तनीय है। और यह स्पष्ट किया है कि इन जीवनिकायों की हिंसा मानव अपने

स्वार्थ के लिए करता है, पर उसे यह ज्ञात नहीं कि हिंसा से कितने कर्मों का बन्धन होता है। इसलिए सभी तीर्थंकरों ने एक ही उपदेश दिया कि तुम किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।[८३] हिंसा से सभी प्राणियों को अपार कष्ट होता है इसलिए हिंसा कर्मबन्ध का एक कारण है।

मौलिक रूप से सभी आत्माएँ समान स्वभाव वाली हैं, किन्तु कर्म-उपाधि के कारण उनके दो रूप हो जाते हैं– एक संसारी आत्मा और दूसरी मुक्त आत्मा। आत्मा तभी मुक्त बनता है जब वह कर्म से रहित बनता है। इसलिये कर्म विघात के मूल साधन ही आचारांग में प्राप्त होते हैं। आत्मा को विज्ञाता भी बताया है।[८४] आत्मा ज्ञानमय है। इस प्रकार की मान्यताएँ हमें उपनिषदों में भी प्राप्त होती हैं।

भगवान महावीर ने लोक को ऊर्ध्व, मध्य और अधः इन तीन विभागों में विभक्त किया है[८५]। अधोलोक में दुःख की प्रधानता है, मध्यलोक में सुख और दुःख इनकी मध्यम स्थिति है, न सुख की उत्कृष्टता है और न दुःख की। ऊर्ध्वलोक में सुख प्रधान रूप से रहा हुआ है। लोकातीत स्थान सिद्धिस्थान और मुक्तस्थान कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में देव लोक हैं, मध्यलोक में मानव प्रधान है और अधोलोक में नरक हैं। मध्यलोक एक ऐसा स्थान है जहाँ से जीव ऊपर और नीचे दोनों स्थानों पर जा सकता है। नारकीय जीव देव नहीं बन सकता और देव नारकीय नहीं बन सकता, पर मानव लोक का जीव नरक में भी जा सकता है, देव भी बन सकता है। उत्कृष्ट पाप के फल को भोगने का स्थान नरक है और पुण्य के फल को भोगने का स्थान स्वर्ग है। अच्छे कृत्य करने वाला स्वर्ग में पैदा होता है और बुरे कृत्य करने वाला नरक में। यदि मनुष्य बनकर वह साधना करता है तो मुक्त बन जाता है। वह संसार चक्र को समाप्त कर देता है। लोक और अलोक का स्पष्ट[८६] उल्लेख प्राप्त होता है।

आचारांग के अनुसार अहिंसक जीवन का अर्थ है–संयमी-जीवन। भगवान महावीर और बुद्ध दोनों ने सदाचार पर बल दिया है, यहाँ जातिवाद को बिलकुल महत्त्व नहीं दिया गया है।

आचारांग में साधना-पक्ष–

तथागत बुद्ध साधना के उषा-काल में उग्रतम साधना करते रहे पर उन्हें उससे आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई। जिसके कारण उन्होंने उग्र-साधना का परित्याग कर ध्यान का आलम्बन लिया। उनका यह अभिमत बन गया कि उग्र साधना ध्यान-साधना में बाधक है। पर प्रभु महावीर की साधना का जो शब्दचित्र आचारांग में प्राप्त है वह बहुत ही कठोर थी। प्रभु महावीर चार-चार माह तक एक ही स्थान पर अवस्थित होकर साधना करते थे। उन्होंने छः माह तक भी अन्न और जल ग्रहण नहीं किया तथापि उनकी वह उग्र-साधना ध्यान में बाधक नहीं अपितु साधक थी। प्रभु महावीर निरन्तर ध्यान-साधना में लगे रहते थे। उन्होंने अपने श्रमण-संघ की जो

आचार-संहिता बनाई वह भी अत्यन्त उग्र साधना युक्त थी। श्रमण के अशन, वसन, पात्र, निवास-स्थान के सम्बन्ध में यह नियम बनाया; कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुरातन-पदार्थ में नवीन-संस्कार किया गया हो तो वह भी भिक्षु के लिये अग्राह्य है। वह उद्दिष्ट-त्यागी है। यदि उसे अनुद्दिष्ट मिल जाए तो और उसके लिये उपयोगी हो तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। जैन श्रमण अन्य बौद्ध और वैदिक परम्परा के भिक्षुओं की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करता था।

बौद्ध-साहित्य में बौद्ध-श्रमणों के लिये स्थान-स्थान पर आवास हेतु विहारों के निर्माण का वर्णन है और वैदिक परम्परा के तापसों के लिये आश्रमों की व्यवस्था बताई गई है किन्तु जैन-श्रमणों के लिये किसी भी प्रकार के निवास-स्थान का निर्माण करना निषिद्ध माना गया था। यदि निर्माण भी उसके निमित्त किया गया हो तो उसमें श्रमण अवस्थित नहीं हो सकता था। बौद्ध भिक्षुओं के लिये वस्त्र ग्रहण करना अनिवार्य था। श्रमणों के निमित्त क्रय करके जो गृहस्थ वस्त्र देता था उसे तथागत बुद्ध सहर्ष स्वीकार करते थे। बुद्ध ने श्रमणों के निमित्त दिये गये वस्त्रों को ग्रहण करना उचित माना था। पर जैन श्रमणों के लिये वस्त्र ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग नहीं था और उसके निमित्त निर्मित-क्रीत वस्त्र को वह ग्रहण भी नहीं कर सकता था और न वह बहुमूल्य, उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता था। उसके पास वस्त्र होने पर भी ग्रीष्म-ऋतु आदि में वस्त्र धारण करना आवश्यक न होता तो वह उसे धारण नहीं करता था और आवश्यक होने पर तथा लज्जा-निवारणार्थ अनासक्त-भाव से वस्त्र का उपयोग करता था। श्रमण भिक्षा से अपना जीवन यापन करता था। भोजन के निमित्त से होने वाली सभी प्रकार की हिंसा से वह मुक्त था। भगवान महावीर के युग में स्थूल जीवों की हिंसा से जन-मानस परिचित था। पर त्यागी और संन्यासी कहलाने वाले व्यक्तियों को भी सूक्ष्म-हिंसा का परिज्ञान नहीं था। वे नित्य नयी मिट्टी खोदकर लाते और आश्रम का लेपन करते थे। अनेकों बार स्नान करने में धर्म का अनुभव करते। तथागत बुद्ध भी पानी में जीव नहीं मानते थे[८७]। वैदिक परम्परा में **'चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति''** वह चौंसठ बार मिट्टी से स्नान करता है। पंचाग्नि तप तपने में साधना की उत्कृष्टता मानी जाती, विविध प्रकार से वायुकाय के जीवों की विराधना की जाती और कन्द-मूल-फल-फूल के आहार को निर्दोष आहार माना जाता। वैदिक-परम्परा के ऋषिगण गृह का परित्याग कर पत्नी के साथ जंगल में रहते थे। वे गृह-त्याग तो करते थे पर पत्नी-त्याग नहीं।

भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा कि श्रमण को स्त्री-संग का पूर्ण त्याग करना चाहिये। क्योंकि स्त्री-संग से नाना प्रकार के प्रपंच करने पड़ते हैं। जिसमें केवल बन्धन ही बन्धन है। अतः सन्तों को गृहत्याग ही नहीं, सर्व-संग-परित्यागी होना चाहिये। अहिंसा महाव्रत के पूर्ण रूप से पालन करने से अन्य सभी महाव्रतों का पालन सहज

संभव था। श्रमण किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करे और न दूसरों को करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन ही करे–मन, वचन और काया से। अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिये रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है। श्रमण को भिक्षा में जो भी वस्तु उपलब्ध होती वह उसे समभाव पूर्वक ग्रहण करता था। परीषहों को सहन करते समय उसके मन में किंचित् मात्र भी असमाधि नहीं होती थी। उसके मन में आनन्द की ऊर्मियाँ तरंगित होती रहती थीं। शारीरिक कष्ट का असर मन पर नहीं होता। क्योंकि ध्यानाग्नि से वह कषायों को जला देता था। भगवान महावीर का मुख्य लक्ष्य शरीर-शुद्धि नहीं, आत्म-शुद्धि है। जिसके जीवन में अहिंसा की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है उसे ही आर्य कहा गया है। और जिसके जीवन में हिंसा की प्रधानता है वह अनार्य है।

आचारांग सूत्र में ऐसे अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं जिनमें विराट् चिन्तन छिपा हुआ है। आचारांग के व्याख्याकारों ने उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचारांग में पवित्र आत्मार्थी श्रमणों के लिए "वसु" शब्द का प्रयोग मिलता है। "**वसु**" शब्द का प्रयोग वेद और उपनिषदों में पवित्र आत्मा का ही प्रतीक है उसे हंस भी कहा है। "वसु" शब्द का वही अर्थ पारसी धर्म के मुख्य ग्रन्थ "अवेस्ता" में भी है। कहीं-कहीं पर "वसु" शब्द का प्रयोग "देव" और धन के अर्थ में आया है।

आचारांग में **आमगंध** शब्द का प्रयोग हुआ है। वह अपवित्र पदार्थ के अर्थ में है। वही अर्थ बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। बुद्ध ने कहा–प्राणघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वंचना, लूट, व्यभिचार आदि जितनी भी अनाचार-मूलक प्रवृत्तियाँ हैं वह सभी आमगंध हैं। इस प्रकार अनेक शब्द भाषा-प्रयोग की दृष्टि से व्यापकता लिए हुए हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

आचारांग सूत्र में जो सत्य तथ्य प्रतिपादित हुए हैं, उनकी प्रतिध्वनि वैदिक और बौद्ध वाङ्मय में निहारी जा सकती है। सत्य अनन्त है, उस अनन्त सत्य की अभिव्यक्ति कभी-कभी सहज रूप से एक सदृश होती है। यह कहना तो अत्यन्त कठिन है, कि किसने किससे कितना ग्रहण किया? पर एक-दूसरे के चिन्तन पर एक-दूसरे के चिन्तन का प्रभाव पड़ना सहज है। वह सत्य की सहज अभिव्यक्ति है। यदि धार्मिक-साहित्य का गहराई से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सहज ही ज्ञात होगा कि कहीं भावों में एकरूपता है तो कहीं परिभाषा में एकरूपता है। कहीं पर युक्तियों की समानता है तो कहीं पर रूपक और कथानक एक सदृश आये हैं। यहाँ हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चिन्तन कर रहे हैं जिससे यह सहज परिज्ञात हो सके कि भारतीय परम्पराओं में कितना सामंजस्य रहा है।

आचारांग में आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए कहा गया है–सम्पूर्ण लोक में किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता और न हनन ही होता है।[८८] इसी की प्रतिध्वनि सुबालोपनिषद्[८९] और भगवद् गीता[९०] में प्राप्त होती है। आचारांग में आत्मा के ही सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस का आदि और अन्त नहीं है उस का मध्य कैसे हो सकता है।[९१] गौडपादकारिका में भी यही बात अन्य शब्दों में दुहराई गई है।[९२]

आचारांग में जन्म-मरणातीत, नित्य, मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं–समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।

मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्-गोल है। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न पीला, न लाल और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धि वाला है और न दुर्गन्धि वाला है। वह न तिक्त है, न कडुआ, न कषैला, न खट्टा है, न मधुर है। वह न कर्कश है, न कठोर है, न भारी है, न हल्का है, वह न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है।

वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है।

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है। उस के लिये कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पद-वाचक शब्द नहीं। वह शब्द रूप नहीं; रूप मय नहीं है, गन्ध रूप नहीं है, रस रूप नहीं है, स्पर्श रूप नहीं है वह ऐसा कुछ भी नहीं। ऐसा मैं कहता हूँ।[९३]

यही बात केनोपनिषद्,[९४] कठोपनिषद्,[९५] वृहदारण्यक[९६] माण्डूक्योपनिषद्[९७] तैत्तिरीयोपनिषद्[९८] और ब्रह्मविद्योपनिषद्[९९] में भी प्रतिध्वनित हुई है।

आचारांग में[१००] ज्ञानियों के शरीर का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं, उन का माँस और रक्त शुष्क हो जाता है। यही बात अन्य शब्दों में नारद परिव्राजकोपनिषद्[१०१] एवं संन्यासोपनिषद्[१०२] में भी कही गयी है।

पाश्चात्य विद्वान् शुब्रिंग ने अपने सम्पादित आचारांग में आचारांग के वाक्यों की तुलना धम्मपद और सुत्तनिपात से की है। मुनि सन्तबालजी ने आचारांग की तुलना श्रीमद्भगवद्गीता के साथ की है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रन्थ देखने चाहिये। हमने यहाँ पर केवल संकेत मात्र किया है।

●●

आचारांग का व्याख्या साहित्य

आचारांग के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। उस आगमिक व्याख्या साहित्य को हम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) निर्युक्तियाँ

(२) भाष्य

(३) चूर्णियाँ

(४) संस्कृत टीकाएँ

(५) लोकभाषा में लिखित–व्याख्या साहित्य

निर्युक्ति

जैन आगम साहित्य पर प्राकृत भाषा में जो पद्य-बद्ध टीकाएँ लिखी गईं, वे निर्युक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियों में प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है। निर्युक्ति की व्याख्या-शैली निक्षेप पद्धतिमय है। निक्षेप-पद्धति में किसी एक पद से संभावित अनेक अर्थ कहने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह शैली न्यायशास्त्र में प्रशस्त मानी जाती है। भद्रबाहु ने निर्युक्तियों का निर्माण किया। निर्युक्तियाँ सूत्र और अर्थ का निश्चित अर्थ बताने वाली व्याख्या हैं। निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है।

जर्मन विद्वान् शारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं। डाक्टर घाटके ने निर्युक्तियों को तीन भागों में विभक्त किया है–

(१) मूल निर्युक्तियाँ; जिनमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।

(२) जिनमें मूल भाष्यों का संमिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र आदि की निर्युक्तियाँ।

(३) वे निर्युक्तियाँ, जिन्हें आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य कहते हैं। जिनमें मूल और भाष्य में इतना संमिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

यह वर्गीकरण वर्तमान में जो निर्युक्ति साहित्य उपलब्ध है उसके आधार से किया गया है। जैसे वैदिक-परम्परा में महर्षि व्यास ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या रूप निघण्टु भाष्य रूप में निरुक्त लिखा। वैसे ही जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखीं। आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि श्रुत केवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखीं। उसके पश्चात् गोविन्द-वाचक जैसे आचार्यों ने निर्युक्तियाँ लिखीं। उन सभी निर्युक्ति गाथाओं का संग्रह कर तथा अपनी ओर से कुछ नवीन गाथा बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों को व्यवस्थित रूप दिया। यह सत्य है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगम-काल में भी थी। **'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ'** यह पाठ उपलब्ध होता है। उन्हीं मूल निर्युक्तियों को आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने उसे अन्तिम रूप दिया है।

इस समय दस आगमों पर निर्युक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं–

१–आवश्यक	६–दशाश्रुतस्कन्ध
२–दशवैकालिक	७–बृहत्कल्प
३–उत्तराध्ययन	८–व्यवहार
४–आचारांग	९–सूर्यप्रज्ञप्ति
५–सूत्रकृतांग	१०–ऋषिभाषित

आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों पर निर्युक्ति प्राप्त होती है। मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट दिल्ली द्वारा मुद्रित "आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च" की प्रस्तावना में मुनि श्री जम्बूविजय जी ने आचारांग की निर्युक्ति का गाथा-परिमाण ३६७ बताया है और महावीर विद्यालय द्वारा मुद्रित "आयारंग सुत्तं" की प्रस्तावना में उन्होंने यह स्पष्ट किया है। आचारांग सूत्र की चतुर्थ चूला तक आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित ३५६ गाथायें हैं। मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह अभिमत है कि निर्युक्ति की ३४६ गाथाएँ और महापरिज्ञा अध्ययन की ७ गाथाएँ–इस प्रकार ३५३ गाथाएँ हैं। (पृष्ठ ३५९) तीन गाथाएँ मुद्रित होने में छूट गई हैं। किन्तु ऋषभदेव जी केशरीमलजी रतलाम की ओर से प्रकाशित आवृत्ति में ३५६ गाथाएँ हैं। पर, हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति की गाथा १९ हैं। इस प्रकार ३६७ गाथाएँ मिलती हैं। 'जैन साहित्य का बृहद इतिहास' भाग तीन, पृष्ठ ११० पर ३५७ गाथाओं का उल्लेख है। निर्युक्ति की प्राचीनतम प्रति का आधार ही विशेष विश्वसनीय है।

आचारांग-निर्युक्ति, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के पश्चात् और सूत्रकृतांग निर्युक्ति के पूर्व रची हुई है। सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार कर आचार, अंग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र-परिज्ञा, संज्ञा और दिशा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। चरण के छह निक्षेप हैं, दिशा के सात निक्षेप हैं और शेष के चार-चार निक्षेप हैं। आचार के पर्यायवाची एकार्थक शब्दों का उल्लेख करते हुए आचारांग के महत्व का प्रतिपादन किया है। आचारांग के नौ ही अध्ययनों का संक्षेप में सार प्रस्तुत किया है। शस्त्र और परिज्ञा इन शब्दों पर नाम, स्थापना आदि निक्षेपों से चिन्तन किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी अग्र शब्द पर निक्षेप दृष्टि से विचार करते हुए उसके आठ प्रकार बताये हैं। १–द्रव्याग्र २–अवगाहनाग्र ३–आदेशाग्र ४–कालाग्र ५–क्रमाग्र ६–गणनाग्र ७–संचयाग्र ८–भावाग्र। भावाग्र के तीन भेद हैं–१–प्रधानाग्र, २–प्रभूताग्र, ३–उपकाराग्र। यहाँ पर उपकाराग्र का वर्णन है। चूलिकाओं के अध्ययन की भी निक्षेप की दृष्टि से व्याख्या की है।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् "हिमवन्त थेरावली" के अनुसार आचार्य गन्धहस्ती द्वारा विरचित आचारांग-सूत्र के विवरण की सूचना है। आचार्य गन्धहस्ती का समय सम्राट विक्रम के २०० वर्ष के पश्चात् का है। आचार्य शीलांक ने भी प्रस्तुत विवरण का सूचन करते हुए कहा है कि 'वह अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण मैं बहुत ही सरल और सुगम वृत्ति लिख रहा हूँ।' पर आज वह विवरण उपलब्ध नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ भी लिखा नहीं जा सकता।

आचारांग सूत्र पर कोई भी भाष्य नहीं लिखा गया है। उसकी पाँचवीं चूला निशीथ है। उस पर भाष्य मिलता है। निर्युक्ति पद्यात्मक है, किन्तु चूर्णि गद्यात्मक है, चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। आचारांग चूर्णि में उन्हीं विषयों का विस्तार किया गया है, जिन विषयों पर आचारांग निर्युक्ति में चिन्तन किया गया है। अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी, अप्-तेज-काय, लोकविजय, परिताप, विहार, रति-अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, ज्ञाति, जातिस्मरण, एषणा, देशना, बन्ध, मोक्ष, परीषह, तत्त्वार्थ-श्रद्धा, जीव-रक्षा, अचेलकत्व, मरण-संलेखना, समनोज्ञत्व, तीन याम, तीन वस्त्र, भगवान महावीर की दीक्षा, देवदूष्य आदि प्रमुख विषयों पर व्याख्या की गई है। चूर्णिकार ने भी निर्युक्तिकार की तरह निक्षेप दृष्टि का उल्लेख करके शब्दों के अर्थ की उद्भावना की है।

चूर्णिकार के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय प्राप्त नहीं होता है। यों प्रस्तुत चूर्णि के रचयिता जिनदास गणी माने जाते हैं। कुछ ऐतिहासिक विज्ञों का मत है कि आचारांग चूर्णि के रचयिता गोपालिक महत्तर के शिष्य होने चाहिये; यह तथ्य अभी अन्वेषणीय है।[१०३]

आगम प्रभावक मुनि पुण्यविजय जी का मन्तव्य है[१०४] कि चूर्णि साहित्य में नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख अनेक बार आये हैं। आचारांग चूर्णि में भी पन्द्रह बार उल्लेख हुआ है। चूर्णि में अत्यन्त ऐतिहासिक सामग्री का संकलन है। सूत्र (२००) की चूर्णि में लोक-स्वरूप के सम्बन्ध में शून्यवादी बौद्धदर्शन के जाने-माने नागार्जुन के मत का भी निर्देश है। बौद्ध-सम्मत क्षणभंगुरता के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। सांख्य-दर्शन के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। प्राचीन-युग में जैन परम्परा में यापनीय संघ था। उस यापनीय संघ के कुछ विचार श्वेताम्बर परम्परा से मिलते थे। आचारांग-चूर्णि में यापनीय संघ के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार आचारांग-चूर्णि का व्याख्या-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व है।

टीका

चूर्णि के पश्चात् आचारांग सूत्र के व्याख्या-साहित्य में टीका साहित्य का स्थान है। चूर्णि साहित्य में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ था और गौणरूप में संस्कृत भाषा का। पर टीकाओं में संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है, उन्होंने प्राचीन व्याख्या साहित्य के आलोक में ऐसे अनेक नये तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक आनन्द-विभोर हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जिस समय टीकाएँ निर्माण की गईं उस समय अन्य मतावलम्बी जैनाचार्यों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौतियाँ देते थे। जैनाचार्यों ने अकाट्य तर्कों से उनके मत का निरसन करने का प्रयत्न किया।

आचारांग पर प्रथम संस्कृत टीकाकार आचार्य शीलांक हैं। उनका अपर नाम शीलाचार्य और तत्त्वादित्य भी मिलता है। उन्होंने प्रभावक-चरित के अनुसार नौ अंगों पर टीकाएं लिखी थीं। पर इस समय आचारांग और सूत्रकृतांग इन दो आगमों पर ही उनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। शीलांक का समय विक्रम की नौवीं दशवीं शताब्दी है। आचारांग की टीका मूल और निर्युक्ति पर अवलम्बित है। प्रत्येक विषय पर विस्तार से विवेचन किया है। पर शैली और भाषा सुबोध है। पूर्व के व्याख्या-साहित्य से यह अधिक विस्तृत है। वर्तमान में आचारांग को समझने के लिये यह टीका अत्यन्त उपयोगी है। इस वृत्ति के श्लोकों का परिमाण १२००० है। प्रस्तुत वृत्ति में नागार्जुन वाचना का दस स्थानों पर उल्लेख हुआ है। यह सत्य है कि वृत्तिकार के सामने चूर्णि विद्यमान थी। इसलिये उन्होंने अपनी वृत्ति में उल्लेख किया है।

आचार्य शीलांक के पश्चात् जिन आचार्यों ने आचारांग पर टीकाएँ लिखी हैं, उन सब का मुख्य आधार आचार्य शीलांक की वृत्ति रही है। अंचल गच्छ के मेरुतुंग सूरि के शिष्य माणक्यशेखर द्वारा रचित एक दीपिका प्राप्त होती है। जिनसमुद्रसूरि के शिष्यरत्न जिनहंस की दीपिका भी मिलती है। हर्ष कल्लोल के शिष्य लक्ष्मी कल्लोल की अवचूरि और पार्श्वचन्द्र सूरि का बालावबोध उपलब्ध होता है। विस्तार भय से हम उनका यहाँ परिचय नहीं दे रहे हैं।

स्थानकवासी परम्परा के विद्वान् आचार्य घासीलाल जी म० द्वारा आगमों पर रचित संस्कृत टीकाएँ भी अपने ढंग की हैं।

टीका साहित्य के पश्चात् अंग्रेजी, हिन्दी और गुजराती में आचाराङ्ग का अनुवाद साहित्य भी प्रकाशित हुआ। डाक्टर हर्मन जेकोबी ने आचाराङ्ग का अँग्रेजी में अनुवाद किया और उस पर महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखी। मुनिश्री सन्तबाल जी ने आचाराङ्ग सूत्र का भावानुवाद प्रकाशित करवाया। श्रमणी विद्यापीठ घाटकोपर (बम्बई) से मूलपाठ के साथ गुजराती अनुवाद निकला है। इसके पूर्व रवजीबाई देवराज के और गोपालदास जीवाभाई पटेल के गुजराती में सुन्दर अनुवाद प्रकाशित हुए थे। हिन्दी में आचार्य अमोलक ऋषि जी म० ने और पण्डित रत्न सौभाग्यमल जी म० ने तथा आचार्य सम्राट आत्माराम जी म० ने आचाराङ्ग पर हिन्दी में विवेचन लिखा, हिन्दी-विवेचन हृदयग्राही है। प्रबुद्ध पाठकों के लिए वह विवेचन उपयोगी है। हीराकुमारी जैन ने आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का बंगला में अनुवाद प्रकाशित करवाया तथा तेरापंथी समुदाय के पण्डित मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान युवाचार्य महाप्रज्ञ) ने मूल और अर्थ के साथ ही विशेष स्थलों पर टिप्पण लिखे हैं। इस प्रकार आधुनिक युग में अनुवाद के साथ आचाराङ्ग के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। मूलपाठ के रूप में भी कुछ ग्रन्थ आये हैं। उनमें आगम प्रभावक मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित मूलपाठ संशोधन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्थानकवासी समाज एक महान क्रान्तिकारी समाज है। समय-समय पर उसने जो क्रान्तिकारी चिन्तन पूर्वक कदम उठाये हैं उससे विज्ञगण मुग्ध होते रहे हैं। आचार्य अमोलक ऋषि जी म०, पूज्य घासीलाल जी म०, धर्मोपदेष्टा फूलचन्द जी म० के द्वारा आगम बत्तीसी का प्रकाशन हुआ है। उन प्रकाशनों में कहीं पर बहुत ही संक्षेप शैली अपनाई गई और कहीं पर अतिविस्तार हो गया जिसके फलस्वरूप आगमों के आधुनिक संस्करण की माँग निरन्तर बनी रही। स्थानकवासी जैन कान्फ्रेस ने भी अनेक बार योजनाएँ बनायीं, पर वे योजनाएँ मूर्त रूप न ले सकीं। सन् १९५२ में स्थानकवासी समाज का एक संगठन बना और उसका नाम 'वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ' रखा गया। श्रमण-संघ के प्रत्येक सम्मेलन में आगम प्रकाशन के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित होते रहे पर वे प्रस्ताव क्रियान्वित नहीं हो सके।

परम आह्लाद का विषय है कि मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० के स्नेही साथी व सहपाठी श्री मधुकर मुनि जी म० ने आगम प्रकाशन की योजना को मूर्त रूप देने का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने कार्य में प्रगति लाने के लिए सम्पादक मण्डल का संयोजन किया। एक वर्ष तक आगम प्रकाशन व सम्पादन के सम्बन्ध में चिन्तन चलता रहा। इस बीच आचार्यप्रवर आनन्द ऋषि जी म० ने आपश्री को युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आपके प्रधान सम्पादकत्व में आचारांग सूत्र का प्रकाशन किया गया है।

प्रस्तुत आगम का मूल पाठ प्राचीन प्रतियों के आधार से शुद्धतम रूप में देने का प्रयास हुआ है। मूलपाठ के साथ ही हिन्दी में भावानुवाद भी दिया गया है और गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में विवेचन भी लिखा गया है। इस तरह प्रस्तुत आगम के अनुवाद व विवेचन की भाषा सरल, सरस और सुबोध है, शैली चित्ताकर्षक है। विवेचन में अनेक कठिन पारिभाषिक शब्दों का गहन अर्थ उद्घाटित किया गया है। प्रस्तुत आगम का सम्पादन; सम्पादन-कला-मर्मज्ञ विद्वान श्रीचन्द जी सुराना ने किया है।

इस सम्पादन में अनेक परिशिष्ट भी हैं। विशिष्ट शब्द सूची भी दी गई है जिससे पाठक के लिए प्रस्तुत संस्करण अधिक उपयोगी बन गया है। 'जाव' शब्द के प्रयोग व परम्परा पर सम्पादक ने संक्षिप्त में अच्छा प्रकाश डाला है।

इस प्रकार आचारांग सूत्र पर अनेक टीका, भाष्य, विवेचन आदि प्रकाशित हुए हैं।

टिप्पण–कुछ समय पूर्व ही महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर जी ने 'आयार सुत्तं' नाम से आचारांग के नव अध्ययनों पर सुन्दर भावानुवाद प्रकाशित किया है। अनुवाद मूलस्पर्शी होते हुए भी भाववाही और रोचक है।

• •

卐

आचारांग के सुभाषित वचन

१. अत्थि मे आया उववाइए.....
से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी । –१।१।१
यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है.... आत्मा के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।

२. एस खलु गंथे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए । –१।१।२
यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुतः ग्रन्थ–बन्धन है, यही मोह है, यही मार–मृत्यु है, और यही नरक है।

३. जाए सद्धाए निक्खंते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तियं । –१।१।३
जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधनापथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्रोतसिका (मन की शंका या कुण्ठा) से दूर रहकर उसका अनुपालन करना चाहिए।

४. जे लोगं अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति, से लोगं अब्भाइक्खति । –१।१।३
जो लोक (अन्य जीवसमूह) का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है।
जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक (अन्य जीवसमूह) का भी अपलाप करता है।

५. वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं । –१।१।४
सतत अप्रमत्त–जाग्रत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषों ने मन के समग्र द्वन्द्वों को अभिभूत कर, सत्य का साक्षात्कार किया है।

६. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे ति पवुच्चति । –१।१।४
जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड (पीड़ा) देने वाला होता है।

७. तं परिण्णाय मेहावी,
इयाणिं णो, जमहं पुव्वमकासी पमाएणं । –१।१।४
मेधावी साधक को आत्मपरिज्ञान के द्वारा यह निश्चय करना चाहिए कि– "मैंने पूर्वजीवन में प्रमादवश जो कुछ भूल की हैं, वे अब कभी नहीं करूँगा।"

८. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।
एयं तुलमन्नेसिं । –१।१।४
जो अपने अन्दर (अपने सुख दुख की अनुभूति) को जानता है, वह बाहर (दूसरों के सुख दुख की अनुभूति) को भी जानता है।
जो बाहर को जानता है, वह अन्दर को भी जानता है।
इस प्रकार दोनों को, स्व और पर को एक तुला पर रखना चाहिए।

९. जे गुणे से आवट्टे,
जे आवट्टे से गुणे। –१।१।५
जो काम-गुण है, इन्द्रियों का शब्दादि विषय है, वह आवर्त संसार-चक्र है।
और जो आवर्त है, वह कामगुण है।

१०. आतुरा परितावेंति । –१।१।६
विषयातुर मनुष्य ही दूसरे प्राणियों को परिताप देते हैं।

११. अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति। –१।१।६
'इसने मुझे मारा'–कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
'यह मुझे मारता है'–कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
'यह मुझे मारेगा'–कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।

१२. से ण हासाए, ण कीड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए। –१।२।१
वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास-परिहास के योग्य रहता है, न क्रीड़ा के, न रति के और न शृंगार के योग्य ही।

१३. अंतरं च खलु इमं संपेहाए,
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। –१।२।१
अनन्त जीवन-प्रवाह में, मानव जीवन को बीच का एक सुअवसर जान कर, धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

१४. वओ अच्चेति जोव्वणं च। –१।२।१

आयु और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।

१५. अणभिक्कंतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए। –१।२।१

हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख! समय का मूल्य समझ!

१६. अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के। –१।२।२

अरति (संयम के प्रति अरुचि) से मुक्त रहने वाला मेधावी साधक क्षण भर में ही बन्धनमुक्त हो सकता है।

१७. अणाणय पुट्ठा वि एगे नियट्टंति,
मंदा मोहेण पाउडा। –१।२।२

मोहाच्छन्न अज्ञानी साधक संकट आने पर धर्मशासन की अवज्ञा कर फिर संसार की ओर लौट पड़ते हैं।

१८. इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए। –१।२।२

बार-बार मोहग्रस्त होने वाला साधक न इस पार रहता है, न उस पार; अर्थात् न इस लोक का रहता है और न परलोक का।

१९. विमुत्ता हु ते जणा. जे जणा पारगामिणो। –१।२।२

जो साधक कामनाओं को पार कर गए हैं, वस्तुतः वे ही मुक्त पुरुष हैं।

२०. लोभमलोभेण दुगुंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ। –१।२।२

जो लोभ के प्रति अलोभवृत्ति के द्वारा विरक्ति रखता है, वह और तो क्या, प्राप्त काम भोगों का भी सेवन नहीं करता है।

२१. विणा वि लोभभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति पासति। १।२।२

जिस साधक ने बिना किसी लोक-परलोक की कामना के निष्क्रमण किया है, प्रव्रज्या ग्रहण की है, वह अकर्म (बन्धनमुक्त) होकर सब कुछ का ज्ञाता, द्रष्टा हो जाता है।

२२. से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए।
नो हीणे, नो अइरित्ते। –१।२।३

यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है, और अनेक बार नीच गोत्र में।

इस प्रकार विभिन्न गोत्रों में जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान्।

२३. तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुप्पे। –१।२।३

आत्मज्ञानी साधक को ऊँची या नीची किसी भी स्थिति में न हर्षित होना चाहिए, और न कुपित।

२४. अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए।
अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए।
अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए। –१।२।३

जो वासना के प्रवाह को नहीं तैर पाए हैं, वे संसार के प्रवाह को नहीं तैर सकते।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगों को पार कर तट पर नहीं पहुँचे हैं, वे संसार सागर के तट पर नहीं पहुँच सकते।

जो राग द्वेष को पार नहीं कर पाए हैं, वे संसार सागर से पार नहीं हो सकते।

२५. वितहं पप्प ऽखेयन्ने
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठई। –१।२।३

अज्ञानी साधक जब कभी असत्य विचारों को सुन लेता है, तो वह उन्हीं में उलझ कर रह जाता है।

२६. उद्देसो पासगस्स नत्थि। –१।२।३

तत्वद्रष्टा को किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं है।

२७. नत्थि कालस्स णागमो। –१।२।३

मृत्यु के लिए अकाल–वक्त-बेवक्त जैसा कुछ नहीं है।

२८. सव्वे पाणा पिआउया,
सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो,
जीविउ कामा
सव्वेसिं जीवियं पियं
नाइवाएज्ज कंचणं। –१।२।३

सब प्राणियों को अपनी जिन्दगी प्यारी है।
सुख सब को अच्छा लगता है और दुख बुरा।
वध सब को अप्रिय है, और जीवन प्रिय।
सब प्राणी जीना चाहते हैं,
कुछ भी हो, सब को जीवन प्रिय है।
अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

२९. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं। —१।२।४
प्रत्येक व्यक्ति का सुख दुःख अपना अपना है।

३०. आसं च छंदं च विगिंच धीरे !
तुमं चेव सल्लमाहट्टु। —१।२।४
हे धीर पुरुष ! आशा-तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग कर।
तू स्वयं ही इन कांटों को मन में रखकर दुखी हो रहा है।

३१. जेण सिया, तेण णो सिया। —१।२।४
तुम जिन (भोगों या वस्तुओं) से सुख की आशा रखते हो, वस्तुतः वे सुख के हेतु नहीं हैं।

३२. अलं कुसलस्स पमाएणं। —१।२।४
बुद्धिमान साधक को अपनी साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

३३. एस वीरे पसंसिए,
जे ण णिविज्जति आदाणाए। —१।२।४
जो अपनी साधना में उद्विग्न नहीं होता है, वही वीर साधक प्रशंसित होता है।

३४. लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा। —१।२।५
मिलने पर गर्व न करे।
न मिलने पर शोक न करे।

३५. बहुंपि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा। —१।२।५
अधिक मिलने पर भी संग्रह न करे।
परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।

३६. कामा दुरतिक्कम्मा। —१।२।५
कामनाओं का पार पाना बहुत कठिन है।

३७. जीवियं दुप्पडिबूहगं। —१।२।५
नष्ट होते जीवन का कोई प्रतिव्यूह अर्थात् प्रतिकार नहीं है।

३८. एस वीरे पसंसिए,
जे बद्धे पडिमोयए। —१।२।५
वही वीर प्रशंसित होता है, जो अपने को तथा दूसरों को दासता के बन्धन से मुक्त कराता है।

३९. जहा अंतो तहा बाहिं,
जहा बाहिं तहा अंतो। –१।२।५
यह शरीर जैसा अन्दर में (असार) है, वैसा ही बाहर में (असार) है। जैसा बाहर में (असार) है, वैसा ही अन्दर में (असार) है।

४०. से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी। –१।२।५
विवेकी साधक लार–थूक चाटने वाला न बने, अर्थात् परित्यक्त भोगों की पुनः कामना न करे।

४१. वेरं वड्ढेइ अप्पणो। –१।२।५
विषयातुर मनुष्य, अपने भोगों के लिए संसार में वैर बढ़ाता रहता है।

४२. अलं बालस्स संगेणं। –१।२।५
बाल जीव (अज्ञानी) का संग नहीं करना चाहिए।

४३. पावं कम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा। –१।२।६
पापकर्म (असत्कर्म) न स्वयं करे, न दूसरों से करवाए।

४४. सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वह। –१।२।६
मनुष्य अपनी ही भूलों से संसार की विचित्र स्थितियों में फँस जाता है।

४५. जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं। –१।२।६
जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुतः ममत्व–परिग्रह का त्याग कर सकता है।
वही मुनि वास्तव में पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है–जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नहीं रखता है।

४६. जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी। –१।२।६
जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है। और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है, वह स्व से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता है।

४७. जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ। –१।२।६
निःस्पृह उपदेशक जिस प्रकार पुण्यवान (संपन्न व्यक्ति) को उपदेश देता है, उसी प्रकार तुच्छ (दीन दरिद्र व्यक्ति) को भी उपदेश देता है।
और जिस प्रकार तुच्छ को उपदेश देता है, उसी प्रकार पुण्यवान को उपदेश देता है अर्थात् दोनों के प्रति एक जैसा भाव रखता है।

४८. कुसले पुण नो बद्धे, न मुत्ते। —१।२।६
कुशल पुरुष न बद्ध है और न मुक्त।
[ज्ञानी के लिए बन्ध या मोक्ष–जैसा कुछ नहीं है]

४९. सुत्ता अमुणी,
मुणिणो सया जागरन्ति। —१।३।१
अज्ञानी सदा सोये रहते हैं, और ज्ञानी सदा जागते रहते हैं।

५०. लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं। —१।३।१
यह समझ लीजिए कि संसार में अज्ञान तथा मोह ही अहित और दुःख करने वाला है।

५१. माई पमाई पुण एइ गब्भं। —१।३।१
मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ में अवतरित होता है, जन्म-मरण करता है।

५२. माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ। —१।३।१
मृत्यु से सदा सतर्क रहने वाला साधक ही उससे छुटकारा पा सकता है।

५३. पन्नाणेहिं परियाणह लोयं मुणीत्ति वुच्चे। —१।३।१
जो अपने प्रज्ञान से संसार के स्वरूप को ठीक तरह जानता है, वही मुनि कहलाता है।

५४. आरंभजं दुक्खमिणं। —१।३।१
यह सब दुःख आरम्भज है, हिंसा में से उत्पन्न होता है।

५५. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ। —१।३।१
जो कर्म में से अकर्म की स्थिति में पहुँच गया है, वह तत्वदर्शी लोक-व्यवहार की सीमा से परे हो गया है।

५६. कम्मुणा उवाही जायइ। —१।३।१
कर्म से ही समग्र उपाधियाँ–विकृतियाँ पैदा होती हैं।

५७. कम्ममूलं च जं छणं। —१।३।१
कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिंसा है।

५८. सम्मत्तदंसी न करेइ पावं। —१।३।२
सम्यग्दर्शी साधक पापकर्म नहीं करता।

५९. कामेसु गिद्धा निचयं करेंति। —१।३।२
कामभोगों में गृद्ध–आसक्त रहने वाले व्यक्ति कर्मों का बन्धन करते हैं।

६०. आयंकदंसी न करेइ पावं। —१।३।२

जो संसार के दुःखों का ठीक तरह दर्शन कर लेता है, वह कभी पापकर्म नहीं करता है।

६१. सच्चंमि धिइं कुव्वह। —१।३।२

सत्य में धृति कर, सत्य में स्थिर हो।

६२. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे।
से केयणं अरिहए पूरइत्तए। —१।३।२

यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है।

वह अपनी कामनाओं की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह छलनी को जल से भरना चाहता है।

६३. अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं। —१।३।२

(साधक अपनी दृष्टि ऊँची रखे, क्षुद्र भोगों की ओर निम्न दृष्टि न रखे) उच्च दृष्टिवाला साधक ही पाप कर्मों से दूर रहता है।

६४. आयओ बहिया पास। —१।३।३

अपने समान ही बाहर में दूसरों को भी देख।

६५. विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा,
महया खुड्डएहि य। —१।३।३

महान हों या क्षुद्र हों, अच्छे हों या बुरे हों, सभी विषयों से साधक को विरक्त रहना चाहिये।

६६. का अरई के आणंदे ? —१।३।३

ज्ञानी के लिए क्या दुःख, क्या सुख ? कुछ भी नहीं।

६७. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ? —१।३।३

मानव ! तू स्वयं ही अपना मित्र है। तू बाहर में क्यों किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है ?

६८. पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि। —१।३।३

मानव ! अपने आपको ही निग्रह कर। स्वयं के निग्रह से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है।

६९. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि। —१।३।३

हे मानव, एक मात्र सत्य को ही अच्छी तरह जान ले, परख ले।

७०. सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ। –१।३।३

जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहता है, वह मार–मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है।

७१. सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए। –१।३।३

सत्य की साधना करने वाला साधक सब ओर दुःखों से घिरा रहकर भी घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता है।

७२. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥ –१।३।४

जो एक को जानता है वह सब को जानता है। और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है।

[जिस प्रकार समग्र विश्व अनन्त है, उसी प्रकार एक छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त है, अनन्त गुण-पर्याय वाला है,–अतः अनंत ज्ञानी ही एक और सबका पूर्ण ज्ञान कर सकता है।]

७३. सव्वओ पमत्तस्स भयं,
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं। –१।३।४

प्रमत्त को सब ओर भय रहता है।
अप्रमत्त को किसी ओर भी भय नहीं है।

७४. जे एगं नामे, से बहुं नामे। –१।३।४

जो एक अपने को नमा लेता है–जीत लेता है, वह समग्र संसार को नमा लेता है।

७५. एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ। –१।३।४

जो मोह को क्षय करता है, वह अन्य अनेक कर्म-विकल्पों को क्षय करता है।

७६. अत्थि सत्थं परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं। –१।३।४

शस्त्र (–हिंसा) एक-से-एक बढ़कर है। परन्तु अशस्त्र (–अहिंसा) एक-से-एक बढ़कर नहीं है, अर्थात् अहिंसा से बढ़कर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नहीं है।

७७. किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ?
नत्थि । –१।३।४

वीतराग सत्यद्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नहीं ?
नहीं होती है।

७८. न लोगस्सेसणं चरे।
जस्स नत्थि इमा जाई,
अण्णा तस्स कओ सिया ? —१।४।१

लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए। जिसको यह लोकैषणा नहीं है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं ?

७९. जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा,
जे अपरिस्सवा ते अणासवा। —१।४।२

जो बन्धन के हेतु हैं, वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते हैं, और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे ही कभी बन्धन के हेतु भी हो सकते हैं।

जो व्रत उपवास आदि संवर के हेतु हैं, वे कभी-कभी संवर के हेतु नहीं भी हो सकते हैं। और जो आस्रव के हेतु हैं, वे कभी-कभी आस्रव के हेतु नहीं भी हो सकते हैं।

[आस्रव और संवर आदि सब मूलतः साधक के अन्तरंग भावों पर आधारित हैं।]

८०. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। —१।४।२

मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को मृत्यु न आए, यह कभी नहीं हो सकता।

८१. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो,
एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो,
सव्वे पाणा, सव्वे भूया,
सव्वे जीवा,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा
न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा
न उद्दवेयव्वा।
इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो।
आरियवयणमेयं। —१।४।२

हम ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते हैं, ऐसी प्ररूपणा करते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि–

किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन को गुलामों

की तरह पराधीन बनाना चाहिये, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए।

उक्त अहिंसा धर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है, यह ध्यान में रखिये।

अहिंसा वस्तुतः आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है।

८२. पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि–
"हं भो पावाइया ! किं मे सायं दुक्खं असायं ?"
समिया पडिवण्णे या वि एवं बूया–
"सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं,
सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं,
असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं।" –१।४।२

सर्वप्रथम विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को जानना चाहिए, और फिर हिंसाप्रतिपादक मतवादियों से पूछना चाहिए कि–

"हे प्रवादियो ! तुम्हें सुख प्रिय लगता है या दुःख ?"

"हमें दुःख अप्रिय है, सुख नहीं"–यह सम्यक् स्वीकार कर लेने पर उन्हें स्पष्ट कहना चाहिए कि "तुम्हारी ही तरह विश्व के समस्त प्राणी, जीव, भूत और सत्वों को भी दुःख अशान्ति (व्याकुलता) देने वाला है, महाभय का कारण है और दुःखरूप है।"

८३. उवेह एणं बहिया य लोगं,
से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू। –१।४।३

अपने धर्म से विपरीत रहने वाले लोगों के प्रति भी उपेक्षाभाव (मध्यस्थता का भाव) रखो।

जो कोई विरोधियों के प्रति उपेक्षा–तटस्थता रखता है, उद्विग्न नहीं होता है, वह समग्र विश्व के विद्वानों में अग्रणी विद्वान है।

८४. एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं। –१।४।३

आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को धुन डालो।

८५. कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं। –१।४।३

अपने को कृश करो, तन-मन को हल्का करो।
अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो।

८६. जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ,
एवं अत्तसमाहिए अणिहे। –१।४।३

जिस तरह अग्नि पुराने सूखे काठ को शीघ्र ही भस्म कर डालती है, उसी तरह सतत अप्रमत्त रहने वाला आत्मसमाहित निःस्पृह साधक कर्मों को कुछ ही क्षणों में क्षीण कर देता है।

८७. जस्स नत्थि पुरा पच्छा,
मज्झे तस्स कुओ सिया ? —१।४।४
जिसको न कुछ पहले है और न कुछ पीछे है, उसको बीच में कहाँ से होगा ?
[जिस साधक को न पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण होता है, और न भविष्य के भोगों की ही कोई कामना होती है, उसको वर्तमान में भोगासक्ति कैसे हो सकती है ?]

८८. से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए। —१।४।४
जो आरम्भ (–हिंसा) से उपरत है, वही प्रज्ञानवान् बुद्ध है।

८९. जे छेए से सागारियं न सेवेइ। —१।५।१
जो कुशल हैं, वे काम भोगों का सेवन नहीं करते।

९०. गुरू से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे।
नेव से अंतो नेव दूरे। —१।५।१
जिसकी कामनाएं तीव्र होती हैं, वह मृत्यु से ग्रस्त होता है, और जो मृत्यु से ग्रस्त होता है वह शाश्वत सुख से दूर रहता है।

परन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है, और न शाश्वत सुख से दूर।

९१. उट्ठिए नो पमायए। —१।५।२
जो कर्तव्यपथ पर उठ खड़ा हुआ है, उसे फिर प्रमाद नहीं करना चाहिए।

९२. पुढो छंदा इह माणवा। —१।५।२
संसार में मानव भिन्न-भिन्न विचार वाले हैं।

९३. बन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव। —१।५।२
वस्तुतः बन्धन और मोक्ष अन्दर में ही है।

९४. नो निन्हवेज्ज वीरियं। —१।५।३
अपनी योग शक्ति को कभी छुपाना नहीं चाहिये।

९५. इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ। —१।५।३
अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर।
बाहर के युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?

९६. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं। —१।५।३
विकारों से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर मिलना दुर्लभ है।

९७. वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा। —१।५।४
कुछ लोग मामूली कहा-सुनी होते ही क्षुब्ध हो जाते हैं।

९८. वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहई समाहिं। —१।५।५
शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नहीं मिलती।

९९. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि। —१।५।५
जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।
[स्वरूप दृष्टि से सब चैतन्य एक समान हैं। यह अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है]

१००. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाए। —१।५।५
जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।
जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।
जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

१०१. सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया। —१।५।६
आत्मा के वर्णन में सब के सब शब्द निवृत्त हो जाते हैं–
समाप्त हो जाते हैं।
वहाँ तर्क की गति भी नहीं है।
और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह ग्रहण कर पाती है।

१०२. नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा। —१।६।५
न अपनी अवहेलना करो, और न दूसरों की।

१०३. गामे वा अदुवा रण्णे।
नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह। —१।८।१

धर्म गाँव में भी हो सकता है, और अरण्य (–जंगल) में भी। क्योंकि वस्तुतः धर्म न गाँव में कहीं होता है और न अरण्य में, वह तो अन्तरात्मा में होता है।

१०४. जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति,
तेसिं पि वयं लज्जामो। –१।८।१
यदि कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म के नाम पर जीवों की हिंसा करते हैं, तो हम इससे भी लज्जानुभूति करते हैं।

१०५. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए। –१।८।३
आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है।

१०६. एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ,
न याऽहमवि कस्स वि। –१।८।६
मैं एक हूँ–अकेला हूँ।
न कोई मेरा है, और न मैं किसी का हूँ।

१०७. जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा॥ –१।८।८।४
साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों में ही किसी तरह की आसक्ति न रखे, तटस्थ भाव से रहे।

१०८. गंथेहि विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए। –१।८।८।११
साधक को अन्दर और बाहर की सभी ग्रन्थियों (बन्धन रूप गाँठों) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूर्ण करनी चाहिए।

१०९. इंदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे मुणी।
तहा वि से अगरहे, अचले जे समाहिए। –१।८।८।१४
शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी मुनि अन्तर्मन में समभाव (=स्थिरता) रखे। इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निन्द्य नहीं है, यदि वह अन्तरंग में अविचल एवं समाहित है तो !

११०. वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा। –१।८।८।२१
सब प्रकार से शरीर का मोह छोड़ दीजिए, फलतः परीषहों के आने पर विचार कीजिए कि मेरे शरीर में परीषह हैं ही नहीं।

१११. नो वयणं फरुसं वइज्जा। –२।१।६
कठोर–कटु वचन न बोले।

११२. नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा। –२।३।१
संकट में मन को ऊँचा नीचा अर्थात् डाँवाडोल नहीं होने देना चाहिए।

११३. राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा
नो अंतरा भासं भासिज्जा। –२।३।३
अपने से बड़े गुरुजन जब बोलते हों, विचार चर्चा करते हों, तो उनके बीच में न बोले।

११४. मणं परिजाणइ से निग्गंथे। –२।३।१५।१
जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है वही सच्चा निर्ग्रन्थ-साधक है।

११५. अणुवीइ भासी से निग्गंथे। –२।३।१५।२
जो विचारपूर्वक बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है।

११६. अणणुवीइ भासी से निग्गंथे समावइज्जा मोसं वयणाए। –२।३।१५।२
जो विचारपूर्वक नहीं बोलता है, उसका वचन कभी-न-कभी असत्य से दूषित हो सकता है।

११७. लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए। –२।३।१५।२
लोभ का प्रसंग आने पर व्यक्ति असत्य का आश्रय ले लेता है।

११८. अणणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा। –२।३।१५।३
जो गुरुजनों की अनुमति लिए बिना भोजन करता है वह अदत्तभोजी है, अर्थात् एक प्रकार से चोरी का अन्न खाता है।

११९. नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे। –२।३।१५।४
जो आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करता है वही ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा निर्ग्रन्थ है।

१२०. न सक्का न सोउं सद्दा, सोतविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ –२।३।१५।१३१
यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अतः शब्दों के प्रति जगने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए।

१२१. नो सक्का रूवमद्दट्ठुं, चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ –२।३।१५।१३२
यह शक्य नहीं है कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप देखा न जाए, अतः रूप का नहीं, किंतु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए।

१२२. न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ –२।३।१५।१३३

यह शक्य नहीं है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघने में न आए, अतः गंध का नहीं, किंतु गंध के प्रति जगने वाले राग द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए।

१२३. न सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ –२।३।१५।१३४

यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आये, अतः रस का नहीं, किन्तु रस के प्रति राग द्वेष का त्याग करना चाहिए।

१२४. न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ –२।३।१५।१३५

यह शक्य नहीं है कि शरीर से स्पृष्ट होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नहीं, किंतु स्पर्श के प्रति जगने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए।

१२५. समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जस्सो य वड्ढइ । –२।४।१६।१४०

अग्नि-शिखा के समान प्रदीप्त एवं प्रकाशमान रहने वाले अन्तर्लीन साधक के तप, प्रज्ञा और यश निरन्तर बढ़ते रहते हैं।

(सूक्ति त्रिवेणी से साभार)

● ●

सन्दर्भ स्थल

टिप्पण–

१. (क)–आवश्यक सूत्र मलयगिरि वृत्ति। (ख)–नन्दी सूत्र वृत्ति।
२. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः–रत्नाकरावतारिका वृत्ति।
३. भगवती सूत्र ५।३।१९२।
४. अनुयोगद्वार सूत्र
५. स्थानाङ्ग सूत्र ३३८, २२८
६. (क) अनुयोग द्वार सूत्र–४२, (ख)–नन्दीसूत्र सूत्र–४०-४१,
(ग) वृहत्कल्प भाष्य गाथा–८८
७. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ५८,९० ।
८. (क)–आवश्यक निर्युक्ति गाथा–१९२। (ख)–धवला भाग १ पृष्ठ ६४ से ७२।
९. नन्दीसूत्र सूत्र–४०
१०. (क)–विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५० (ख)–वृहत्कल्पभाष्य–१४४
(ग)–तत्त्वार्थभाष्य १–२० । (घ)–सर्वार्थसिद्धि–१–२० ।
११. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र ४८ ।
१२. वृहत्कल्पभाष्य गाथा ९६३ से ९६६ ।
१३. वृहत्कल्पभाष्य गाथा १३२ ।
१४. गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा ।
धुव-चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं ॥
–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५५२ ।
१५. नन्दीसूत्र सूत्र–९ से ११९ ।
१६. आचारांग वृत्ति-२९० ।
१७. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६ से १८।
१८. (क) निशीथभाष्य-६५०० (ख) पंचकल्पचूर्णी पत्र-१ ।
१९. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१ ।
२०. पंचकल्पभाष्य गाथा-११ ।
२१. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१ ।
२२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ६९ ।
२३. अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ?
अणुओगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ॥
सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणाविंति ॥ –आचारांग निर्युक्ति–गा० १६/१७

२४. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२ ।
२५. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२ ।
२६. निशीथ १९–१ ।
२७. व्यवहार भाष्य ३ । १७४–१७५ ।
२८. आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥ – आचारांग निर्युक्ति गाथा १०
२९. आचारांग निर्युक्ति–गाथा ८
३०. (क)–नन्दी सूत्र वृत्ति पृष्ठ ८८
(ख)–नन्दी सूत्र चूर्णी पृष्ठ ७५
३१. समवायांग वृत्ति पृष्ठ १३०-१३१
३२. सव्व तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खन्ति, ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताएच्चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गंथंति। इयाणि पढममंगंति किं निमित्तं आयारो पढमं ठवियो। –आचारांग चूर्णी
३३. आचारांग वृत्ति, पृष्ठ ६ ।
३४. समवायांग वृत्ति, पृष्ठ १०१
३५. त्रिषष्टि० १०/५/१६५
३६. महावीरचरियं ८/२५७ श्री गुणचन्द्राचार्य !
३७. अभिधान चिन्तामणि १६० !
३८. आचारांग चूर्णी, पृष्ठ ३
३९. आचारांग शीलांक वृत्ति, पृष्ठ ६ ।
४०. समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र ८९ ।
४१. नन्दी सूत्र ८० ।
४२. आचारांग निर्युक्ति गाथा ३३, ३४ ।
४३. आचारांग निर्युक्ति–गाथा–३१, ३२ पृष्ठ ९
४४. समवायांग सूत्र प्रकीर्णक, समवाय सूत्र–८९
४५. आचारांग वृत्ति पृष्ठ १९६ ।
४६. आचारांग निर्युक्ति–गाथा ३१-३० पृष्ठ ९ ।
४७. आचारांग चूर्णी ।
४८. स्थानांग सूत्र ९ ।
४९. समवायांग सूत्र ८९ ।
५०. प्रशमरति प्रकरण ११४-११७ ।
५१. आचारांग निर्युक्ति–गाथा ११ ।

५२. हारिभद्रीया नन्दीवृत्ति पृष्ठ ७६ ।
५३. नन्दी सूत्र चूर्णी पृष्ठ ६२ ।
५४. समवायांग वृत्ति पृष्ठ १०८ ।
५५. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १००३, पृष्ठ ४८-६७ ।
५६. अनुयोगद्वार वृत्ति पृष्ठ २४३-२४४ ।
५७. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी, पृष्ठ ९ ।
५८. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति १।१
५९. आचारांग शीलांकवृत्ति १।१
६०. कर्मग्रन्थ–प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा ७ ।
६१. आचारांग निर्युक्ति गाथा–२९०
६२. आचारांग निर्युक्ति गथा ७
६३. आचारांग निर्युक्ति गाथा ७ से १० तक
६४. आचारांग चूर्णी सूत्र ८७, ८८, ८९, २४०, १६२, १९६, १०२
६५. आचारांग वृत्ति पृष्ठ ३१९ से ३२० तक।
६६. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण १
६७. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण २
६८. आचारांग निर्युक्ति गाथा २८६।
६९. आचारांग निर्युक्ति गाथा २८७।
७०. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२६।
७१. आचारांग वृत्ति, पत्र २९०।
७२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८७।
७३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १८८।
७४. परिशिष्ट पर्व–९।९७–१०० पृष्ठ–९०
७५. दशवैकालिक चूर्णि पृ. ७८।
७६. दशवैकालिक वृत्ति पृ. ८८।
७७. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १७४।
७८. आचारांग सूत्र १।३।
७९. आचारांग १०९।
८०. आचारांग ६,१३।
८१. आचारांग ८०।
८२. आचारांग ४८, ४६, ९,१,१३, १३।
८३. आचारांग सूत्र १२६।
८४. आचाराग सूत्र–१६५।

८५. आचारांग सूत्र–९३।
८६. आचारांग सूत्र १२०।
८७. न हि महाराज उदकं जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्ता वा।
–मिलिन्द पण्हो, पृ. २५३ से २५५
८८. स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ, कं च णं सव्वलोए
–आचारांग १।३।३।
८९. न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते ।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनो ऽयमात्मा ॥
–सुबालोपनिषद् ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद् पृष्ठ २१०
९०. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुस्चलोऽयं सनातनः ॥ –भगवद्गीता अ-२, श्लोक-२३
९१. आचारांग सूत्र १।४।४।
९२. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने ऽवि तत्तथा
–गौडपादकारिका, प्रकरण २ श्लोक–६
९३. आचारांग सूत्र–१।५।६।
९४. केनोपनिषद् खण्ड–१, श्लोक–३
९५. कठोपनिषद् अ० १ श्लोक १५
९६. बृहदारण्यक ब्राह्मण ८ श्लोक–८
९७. माण्डूक्योपनिषद्, श्लोक–७
९८. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाद–४
९९. ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१
१००. आगयपञ्चाणाणं किसा बाहा भवंति पयणुए मंस-सोणिए –आचारांग १।६।३।
१०१. नारद परिव्राजकोपनिषद्–७ उपदेश।
१०२. संन्यासोपनिषद् १ अध्याय
१०३. देखें; उत्तराध्ययन चूर्णि पृष्ठ-२८३।
१०४. जैन आगमधर और प्राकृतवाङ्मय। –मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ

स्थानांग सूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति रूपी भव्य भवन के वेद, त्रिपिटक और आगम ये तीन मूल आधार-स्तम्भ हैं, जिन पर भारतीय चिन्तन आधृत है। भारतीय धर्म दर्शन साहित्य और संस्कृति की अन्तरात्मा को समझने के लिये इन तीनों का परिज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वेद–

वेद भारतीय तत्त्वद्रष्टा ऋषियों की वाणी का अपूर्व व अनूठा संग्रह है। समय-समय पर प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा को निहार कर या अद्‌भुत, अलौकिक रहस्यों को देखकर जिज्ञासु ऋषियों की हृत्तन्त्री के सुकुमार तार झनझना उठे, और वह अन्तर्हृदय की वाणी वेद के रूप में विश्रुत हुई। ब्राह्मण दार्शनिक मीमांसक वेदों को सनातन और अपौरुषेय मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक प्रभृति दार्शनिक उसे ईश्वरप्रणीत मानते हैं। उनका यह आघोष है कि वेद ईश्वर की वाणी है। किन्तु आधुनिक इतिहासकार वेदों की रचना का समय अन्तिम रूप से निश्चित नहीं कर सके हैं। विभिन्न विज्ञों के विविध मत हैं, पर यह निश्चित है कि वेद् भारत की प्राचीन साहित्य-सम्पदा है। प्रारम्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीन ही वेद थे। अतः उन्हें वेदत्रयी कहा गया है। उस के पश्चात् अथर्ववेद को मिलाकर चार वेद बन गये। ब्राह्मण ग्रन्थ व आरण्यक ग्रन्थों में वेद की विशेष व्याख्या की गयी है। उस व्याख्या में कर्मकाण्ड की प्रमुखता है। उपनिषद् वेदों का अन्तिम भाग होने से वह वेदान्त कहलाता है। उसमें ज्ञानकाण्ड की प्रधानता है। वेदों को प्रमाणभूत मानकर ही स्मृतिशास्त्र और सूत्र-साहित्य का निर्माण किया गया। ब्राह्मण-परम्परा का जितना भी साहित्य निर्मित हुआ है, उस का मूल स्रोत वेद हैं। भाषा की दृष्टि से वैदिक विज्ञों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत को बनाया है और उस भाषा को अधिक से अधिक समृद्ध करने का प्रयास किया है।

त्रिपिटक

त्रिपिटक तथागत बुद्ध के प्रवचनों का सुव्यवस्थित संकलन-आकलन है, जिस में आध्यात्मिक. धार्मिक, सामाजिक और नैतिक उपदेश भरे पड़े हैं। बौद्ध परम्परा का सम्पूर्ण आचार-विचार और विश्वास का केन्द्र त्रिपिटक साहित्य है। पिटक तीन हैं, सुत्तपिटक, विनयपिटक, अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक में बौद्ध सिद्धान्तों का विश्लेषण

है, विनयपिटक में भिक्षुओं की परिचर्या और अनुशासन-सम्बन्धी चिन्तन है, और अभिधम्मपिटक में तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन है। आधुनिक इतिहास-वेत्ताओं ने त्रिपिटक का रचनाकाल भी निर्धारित किया है। बौद्ध-साहित्य अत्यधिक विशाल है। उस साहित्य ने भारत को ही नहीं, अपितु चीन, जापान, लंका, बर्मा, कम्बोडिया, थाईदेश, आदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को भी प्रभावित किया है। वैदिक विज्ञों ने विज्ञों की भाषा संस्कृत अपनाई तो बुद्ध ने उस युग की जनभाषा पाली अपनाई। पाली भाषा को अपनाने से बुद्ध जनसाधारण में अत्यधिक लोकप्रिय हुए।

जैन आगम

"जिन" की वाणी में जिसकी पूर्ण निष्ठा है, वह जैन है। जो राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक शत्रुओं के विजेता हैं, वे जिन हैं। श्रमण भगवान् महावीर जिन भी थे, तीर्थंकर भी थे। वे यथार्थज्ञाता, वीतराग, आप्त पुरुष थे। वे अलौकिक एवं अनुपम दयालु थे। उनके हृदय के कण-कण में, मन के अणु-अणु में करुणा का सागर कुलाचें मार रहा था। उन्होंने संसार के सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिये पावन प्रवचन किये। उन प्रवचनों को तीर्थंकरों के साक्षात् शिष्य श्रुतकेवली गणधरों ने सूत्ररूप में आबद्ध किया। वह–गणिपिटक आगम है।[1] आचार्य भद्रबाहु के शब्दों में यों कह सकते हैं, तप, नियम ज्ञान रूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी केवली भगवान् भव्य जनों के विबोध के लिये ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन कुसुमों को झेल कर प्रवचनमाला गूँथते हैं। वह आगम हैं।[2] जैन धर्म का सम्पूर्ण विश्वास, विचार और आचार का केन्द्र आगम है। आगम ज्ञान-विज्ञान का, धर्म और दर्शन का, नीति और अध्यात्मचिन्तन का अपूर्व खजाना है। वह अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में विभक्त है। नन्दीसूत्र आदि में उसके सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा है।

अपेक्षा दृष्टि से जैन आगम पौरुषेय भी हैं और अपौरुषेय भी। तीर्थंकर व गणधर आदि व्यक्तिविशेष के द्वारा रचित होने से वे पौरुषेय हैं। और पारमार्थिक दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो सत्यतथ्य एक है। विभिन्न देश काल व व्यक्ति की दृष्टि से उस सत्य तथ्य का आविर्भाव विभिन्न रूपों में होता है। उन सभी आविर्भावों में एक ही चिरन्तन सत्य अनुस्यूत है। जितने भी अतीत काल में तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने आचार की दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सामायिक, समभाव, विश्ववात्सल्य और विश्वमैत्री का पावन संदेश दिया है। विचार की दृष्टि से स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या विभज्यवाद का उपदेश दिया। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से जैन आगम अनादि अनन्त हैं। समवायाङ्ग में यह स्पष्ट है–द्वादशांग गणिपिटक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यह भी नहीं है कि कभी नहीं है और कभी नहीं होगा, यह भी नहीं है। वह था, है, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।[3] आचार्य संघदास गणि ने बृहत्कल्पभाष्य में लिखा है

कि तीर्थंकरों के केवलज्ञान में किसी भी प्रकार का भेद नहीं होता। जैसा केवलज्ञान भगवान् ऋषभदेव को था, वैसा ही केवलज्ञान श्रमण भगवान् महावीर को भी था। इसलिये उनके उपदेशों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं होता।[४] आचारांग में भी कहा गया है कि जो अरिहंत हो गये हैं, जो अभी वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हत्या मत करो। उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ। उन्हें गुलाम मत बनाओ, उन्हें कष्ट मत दो। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, और विवेकी पुरुषों ने बताया है।[५] इस प्रकार जैन आगमों में पौरुषेयता और अपौरुषेयता का सुन्दर समन्वय हुआ है।[६]

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि तीर्थंकर अर्थ रूप में उपदेश प्रदान करते हैं, वे अर्थ के प्रणेता हैं। उस अर्थ को सूत्रबद्ध करने वाले गणधर[७] या स्थविर हैं। नन्दीसूत्र आदि में आगमों के प्रणेता तीर्थंकर कहे हैं।[८] जैन आगमों का प्रामाण्य गणधरकृत होने से ही नहीं, अपतु अर्थ के प्रणेता तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वार्थसाक्षात्कारित्व के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं। अंगबाह्य आगम की रचना करने वाले स्थविर हैं।[९] अंगबाह्य आगम का प्रामाण्य स्वतन्त्र भाव से नहीं, अपितु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविसंवाद होने से है।

आगम की सुरक्षा में बाधाएँ

वैदिक विज्ञों ने वेदों को सुरक्षित रखने का प्रबल प्रयास किया है, वह अपूर्व है, अनूठा है। जिसके फलस्वरूप ही आज वेद पूर्ण रूप से प्राप्त हो रहे हैं। आज भी शताधिक ऐसे वेदपाठी ब्राह्मण हैं, जो प्रारम्भ से प्रान्त तक वेदों का शुद्ध-पाठ कर सकते हैं उन्हें वेद पुस्तक की भी आवश्यकता नहीं होती जिस प्रकार ब्राह्मण पण्डितों ने वेदों की सुरक्षा की, उस तरह आगम और त्रिपिटकों की सुरक्षा जैन और बौद्ध विज्ञ नहीं कर सके। जिसके अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य कारण यह है कि पिता की ओर से पुत्र को वेद विरासत के रूप में मिलते रहे हैं। पिता अपने पुत्र को बाल्यकाल से ही वेदों को पढ़ाता था। उसके शुद्ध उच्चारण का ध्यान रखता था। शब्दों में कहीं भी परिवर्तन न हो, इस का पूर्ण लक्ष्य था। जिससे शब्द-परम्परा की दृष्टि से वेद पूर्ण रूप से सुरक्षित रहे। किन्तु अर्थ की उपेक्षा होने से वेदों की अर्थ-परम्परा में एकरूपता नहीं रह पाई, वेदों की परम्परा, वंशपरम्परा की दृष्टि से अबाध गति से चल रही थी। वेदों के अध्ययन के लिये ऐसे अनेक विद्याकेन्द्र थे जहाँ पर केवल वेद ही सिखाये जाते थे। वेदों के अध्ययन और अध्यापन का अधिकारी केवल ब्राह्मण वर्ग था। ब्राह्मण के लिये यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य था कि वह जीवन के प्रारम्भ में वेदों का गहराई से अध्ययन करे। वेदों का बिना अध्ययन किये ब्राह्मण वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं था। वेदाध्ययन ही उस के लिये सर्वस्व था। अनेक प्रकार के क्रियाकाण्डों में वैदिक सूक्तों का उपयोग होता था। वेदों को लिखने और

लिखाने में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। ऐसे अनेक कारण थे, जिनसे वेद सुरक्षित रह सके। किन्तु जैन आगम पिता की धरोहर के रूप में पुत्र को कभी न मिले। दीक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु अपने शिष्यों को आगम पढ़ाता था। ब्राह्मण पण्डितों को अपना सुशिक्षित पुत्र मिलना कठिन नहीं था। जबकि जैन श्रमणों को सुयोग्य शिष्य मिलना उतना सरल नहीं था। श्रुतज्ञान की दृष्टि से शिष्य का मेधावी और जिज्ञासु होना आवश्यक था। उसके अभाव में मन्दबुद्धि व आलसी शिष्य यदि श्रमण होता तो वह भी श्रुत का अधिकारी था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों ही वर्ण वाले बिना किसी संकोच के जैन श्रमण बन सकते थे। जैन श्रमणों की आचार-संहिता का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट है कि दिन और रात्रि के आठ प्रहरों के चार प्रहर स्वाध्याय के लिये आवश्यक माने गये, पर प्रत्येक श्रमण के लिये यह अनिवार्य नहीं था कि वह इतने समय तक आगमों का अध्ययन करे ही। यह भी अनिवार्य नहीं था, कि मोक्ष प्राप्त करने के लिये सभी आगमों का गहराई से अध्ययन आवश्यक ही है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये जीवाजीव का परिज्ञान आवश्यक था। सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं से मोक्ष सुलभ था। इसलिये सभी श्रमण और श्रमणियाँ आगमों के अध्ययन की ओर इतने उत्सुक नहीं थे। जो विशिष्ट मेधावी व जिज्ञासु श्रमण-श्रमणियाँ थीं, जिनके अन्तर्मन में ज्ञान और विज्ञान के प्रति रस था, जो आगमसाहित्य के तलछट तक पहुँचना चाहते थे, वे ही आगमों का गहराई से अध्ययन, चिन्तन, मनन और अनुशीलन करते थे। यही कारण है कि आगम साहित्य में श्रमण और श्रमणियों के अध्ययन के तीन स्तर मिलते हैं। कितने ही श्रमण सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन करते थे।[१०] कितने ही पूर्वों का अध्ययन करते थे।[११] और कितने ही द्वादश अंगों को पढ़ते थे।[१२] इस प्रकार अध्ययन के क्रम में अन्तर था। शेष श्रमण-श्रमणियाँ आध्यात्मिक साधना में ही अपने आप को लगाये रखते थे। जैन श्रमणों के लिये जैनाचार का पालन करना सर्वस्व था। जबकि ब्राह्मणों के लिये वेदाध्ययन करना सर्वस्व था। वेदों का अध्ययन गृहस्थ जीवन के लिए भी उपयोगी था। जब कि जैन आगमों का अध्ययन केवल जैन श्रमणों के लिये उपयोगी था, और वह भी पूर्ण रूप से साधना के लिए नहीं। साधना की दृष्टि से चार अनुयोगों में चरण-करणानुयोग ही विशेष रूप से आवश्यक था। शेष तीन अनुयोग उतने आवश्यक नहीं थे। इसलिये साधना करने वाले श्रमण-श्रमणियों की उधर उपेक्षा होना स्वाभाविक था। द्रव्यानुयोग आदि कठिन भी थे। मेधावी सन्त-सतियाँ ही उनका गहराई से अध्ययन करती थीं, शेष नहीं।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि तीर्थंकर भगवान् अर्थ की प्ररूपणा करते हैं, सूत्र रूप में संकलन गणधर करते हैं। एतदर्थ ही आगमों में यत्र-तत्र **'तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते'** वाक्य का प्रयोग हुआ है। जिस तीर्थंकर के जितने गणधर होते हैं, वे सभी एक ही अर्थ को आधार बनाकर सूत्र की रचना करते हैं। कल्पसूत्र की स्थविरावली

में श्रमण भगवान् महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर बताये हैं।[१३] उपाध्याय विनयविजय जी ने गण का अर्थ एक वाचना ग्रहण करने वाला 'श्रमणसमुदाय' किया है।[१४] और गण का दूसरा अर्थ स्वयं का शिष्य समुदाय भी है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने[१५] यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक गण की सूत्रवाचना पृथक्-पृथक् थी। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर और नौ गण थे। नौ गणधर श्रमण भगवान् महावीर के सामने ही मोक्ष पधार चुके थे और भगवान् महावीर के परिनिर्वाण होते ही गणधर इन्द्रभूति गौतम केवली बन चुके थे। सभी ने अपने-अपने गण सुधर्मा को समर्पित किये थे क्योंकि वे सभी गणधरों से दीर्घजीवी थे।[१६] आज जो द्वादशांगी विद्यमान है वह गणधर सुधर्मा की रचना है।

कितने ही तार्किक आचार्यों का यह अभिमत है कि प्रत्येक गणधर की भाषा पृथक् थी। इसलिए द्वादशांगी भी पृथक् होनी चाहिये। सेनप्रश्न ग्रन्थ में तो आचार्य ने[१७] यह प्रश्न उठाया है कि भिन्न-भिन्न वाचना होने से गणधरों में साम्भोगिक सम्बन्ध था या नहीं ? और उन की सामाचारी में एकरूपता थी या नहीं ? आचार्य ने स्वयं ही उत्तर दिया है कि वाचना-भेद होने से संभव है सामाचारी में भेद हो। और कथंचित् साम्भागिक सम्बन्ध हो। बहुत से आधुनिक चिन्तक भी इस बात को स्वीकार करते हैं। आगमतत्त्ववेत्ता मुनि जम्बूविजय जी ने[१८] आवश्यकचूर्णि को आधार बनाकर इस तर्क का खण्डन किया है। उन्होंने तर्क दिया है कि यदि पृथक्-पृथक् वाचनाओं के आधार पर द्वादशांगी पृथक्-पृथक् थी तो श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में इस का उल्लेख होना चाहिये था। पर वह नहीं है। उदाहरण के रूप में एक कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के एक ही प्रकार के पाठ्यग्रन्थ होते हैं। पढ़ाने की सुविधा की दृष्टि से एक ही विषय को पृथक्-पृथक् अध्यापक पढ़ाते हैं। पृथक्-पृथक अध्यापकों के पढ़ाने से विषय कोई पृथक् नहीं हो जाता। वैसे ही पृथक्-पृथक् गणधरों के पढ़ाने से सूत्ररचना भी पृथक् नहीं होती। आचार्य जिनदास गणि महत्तर ने[१९] भी यह स्पष्ट लिखा है कि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सभी गणधर एकान्त स्थान में जाकर सूत्र की रचना करते हैं । उन सभी के अक्षर, पद और व्यञ्जन समान होते हैं। इस से भी यह स्पष्ट है कि सभी गणधरों की भाषा एक सदृश थी। उसमें पृथकता नहीं थी। पर जिस प्राकृत भाषा में सूत्र रचे गये थे, वह लोकभाषा थी। इसलिए उस में एकरूपता निरन्तर सुरक्षित नहीं रह सकती थी। प्राकृतभाषा की प्रकृति के अनुसार शब्दों के रूपों में संस्कृत के समान एकरूपता नहीं है। समवायांग[२०] आदि में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिया। पर अर्धमागधी भाषा भी उसी रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। आज जो जैन आगम हमारे सामने हैं, उनकी भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत है। दिगम्बर परम्परा के आगम भी अर्धमागधी में न होकर शौरसेनी प्रधान हैं, आगमों के अनेक पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं।[२१]

जैन श्रमणों की आचारसंहिता प्रारम्भ से ही अत्यन्त कठिन रही है। अपरिग्रह उनका जीवनव्रत है। अपरिग्रह महाव्रत की सुरक्षा के लिये आगमों को लिपिबद्ध करना, उन्होंने उचित नहीं समझा। लिपि का परिज्ञान भगवान् ऋषभदेव के समय से ही चल रहा था।[२२] प्रज्ञापना सूत्र में अठारह लिपियों का उल्लेख मिलता है।[२३] उस में "पोत्थार" शब्द व्यवहृत हुआ है। जिसका अर्थ "लिपिकार" है।[२४] पुस्तक लेखन को आर्य शिल्प कहा है। अर्धमागधी भाषा एवं ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले लेखक को भाषाआर्य कहा है।[२५] स्थानाङ्ग में गण्डी[२६] कच्छवी, मुष्टि, संपुटफलक, सुपाटिका इन पाँच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख है। दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति में[२७] प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए इन पुस्तकों का विवरण प्रस्तुत किया है। निशीथचूर्णि में इन का वर्णन है।[२८] टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़पत्र, सम्पुट का संचय और कर्म का अर्थ मषि और लेखनी किया है। जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में भी लेखनकला का विवरण मिलता है।[२९] वैदिक वाङ्मय में भी लेखनकला-सम्बन्धी अनेक उद्धरण हैं। सम्राट सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने भारत यात्रा के अपने संस्मरणों में लिखा है कि भारतवासी लोग कागज-निर्माण करते थे।[३०] सारांश यह है–अतीत काल से ही भारत में लिखने की परम्परा थी। किन्तु जैन आगम लिखे नहीं जाते थे। आत्मार्थी श्रमणों ने देखा–यदि हम लिखेंगे तो हमारा अपरिग्रह महाव्रत पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं रह सकेगा, हम पुस्तकों को कहाँ पर रखेंगे, आदि विविध दृष्टियों से चिन्तन कर उसे असंयम का कारण माना।[३१] पर जब यह देखा गया कि काल की काली छाया से विक्षुब्ध अनेक श्रुतधर श्रमण स्वर्गवासी बन गये। श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न होने लगी। तब मूर्धन्य मनीषियों ने चिन्तन किया–यदि श्रुतसाहित्य नहीं लिखा गया तो एक दिन वह भी आ सकता है कि जब सम्पूर्ण श्रुत-साहित्य नष्ट हो जाये। अतः उन्होंने श्रुत-साहित्य को लिखने का निर्णय लिया। जब श्रुत-साहित्य को लिखने का निर्णय लिया गया, तब तक बहुत सारा श्रुत विस्मृत हो चुका था। पहले आचार्यों ने जिस श्रुत-लेखन को असंयम का कारण माना था, उसे ही संयम का कारण मानकर पुस्तक को भी संयम का कारण माना।[३२] यदि ऐसा नहीं मानते, तो रहा-सहा श्रुत भी नष्ट हो जाता। श्रुत-रक्षा के लिये अनेक अपवाद भी निर्मित किये गये। जैन श्रमणों की संख्या ब्राह्मण-विज्ञ और बौद्ध-भिक्षुओं की अपेक्षा कम थी। इस कारण से भी श्रुत-साहित्य की सुरक्षा में बाधा उपस्थित हुई। इस तरह जैन आगम साहित्य के विच्छिन्न होने के अनेक कारण रहे हैं।

बौद्ध साहित्य के इतिहास का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट होता है कि तथागत बुद्ध के उपदेश को व्यवस्थित करने के लिये अनेक बार संगीतियाँ हुईं। उसी तरह भगवान् महावीर के पावन उपदेशों को पुनः सुव्यवस्थित करने के लिये आगमों की वाचनाएं हुईं। आर्य जम्बू के बाद दस बातों का विच्छेद हो गया था।[३३] श्रुत की अविरल धारा आर्य भद्रबाहु तक चलती रही। वे अन्तिम श्रुतकेवली थे। जैन शासन

को वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के मध्य दुष्काल के भयंकर वात्याचक्र से जूझना पड़ा। अनुकूल भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुतसम्पन्न मुनि कालकवलित हो गये थे। दुष्काल समाप्त होने पर विच्छिन्न श्रुत को संकलित करने के लिये वीर-निर्वाण १६० (वि. पू. ३१०) के लगभग श्रमण-संघ पाटलिपुत्र (मगध) में एकत्रित हुआ। आचार्य स्थूलिभद्र इस महासम्मेलन के व्यवस्थापक थे। इस सम्मेलन का सर्वप्रथम उल्लेख "तित्थोगाली"[३४] में प्राप्त होता है। उसके बाद के बने हुए अनेक ग्रन्थों में भी इस वाचना का उल्लेख है।[३५] मगध जैन श्रमणों की प्रचारभूमि था, किन्तु द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणों को मगध छोड़कर समुद्र-किनारे जाना पड़ा।[३६] श्रमण किस समुद्र तट पर पहुँचे इस का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कितने ही विज्ञों ने दक्षिणी समुद्र तट पर जाने की कल्पना की है। पर मगध के सन्निकट बंगोपसागर (बंगाल की खाड़ी) भी है। जिस के किनारे उड़ीसा अवस्थित है। वह स्थान भी हो सकता है। दुष्काल के कारण सन्निकट होने से श्रमण संघ का वहाँ जाना संभव लगता है। पाटलिपुत्र में सभी श्रमणों ने मिलकर एक-दूसरे को पूछकर प्रामाणिक रूप से ग्यारह अंगों का पूर्णतः संकलन उस समय किया।[३७] पाटलिपुत्र में जितने भी श्रमण एकत्रित हुए थे, उनमें दृष्टिवाद का परिज्ञान किसी श्रमण को नहीं था। दृष्टिवाद जैन आगमों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग था, जिसका संकलन किये बिना अंगों की वाचना अपूर्ण थी। दृष्टिवाद के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु थे। आवश्यक-चूर्णि के अनुसार वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राणध्यान की साधना कर रहे थे।[३८] संघ ने आगम-निधि की सुरक्षा के लिये श्रमणसंघाटक को नेपाल प्रेषित किया। श्रमणों ने भद्रबाहु से प्रार्थना की–'आप वहाँ पधार कर श्रमणों को दृष्टिवाद की ज्ञान-राशि से लाभान्वित करें।' भद्रबाहु ने साधना में विक्षेप समझते हुए प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

"तित्थोगालिय" के अनुसार भद्रबाहु ने आचार्य होते हुए भी संघ के दायित्व से उदासीन होकर कहा–'श्रमणो ! मेरा आयुष्यकाल कम रह गया है। इतने स्वल्प समय में मैं दृष्टिवाद की वाचना देने में असमर्थ हूँ। आत्महितार्थ मैं अपने आपको समर्पित कर चुका हूँ। अतः संघ को वाचना देकर क्या करना है?'[३९] इस निराशाजनक उत्तर से श्रमण उत्तप्त हुए। उन्होंने पुनः निवेदन किया–'संघ की प्रार्थना को अस्वीकार करने पर आपको क्या प्रायश्चित्त लेना होगा?'[४०]

आवश्यकचूर्णि[४१] के अनुसार आये हुए श्रमण-संघाटक ने कोई नया प्रश्न उपस्थित नहीं किया, वह पुनः लौट गया। उसने सारा संवाद संघ को कहा। संघ अत्यधिक विक्षुब्ध हुआ। क्योंकि भद्रबाहु के अतिरिक्त दृष्टिवाद की वाचना देने में कोई भी समर्थ नहीं था। पुनः संघ ने श्रमण-संघाटक को नेपाल भेजा। उन्होंने निवेदन किया–भगवन् ! संघ की आज्ञा की अवज्ञा करने वाले को क्या प्रायश्चित्त आता है ?[४२] प्रश्न सुनकर भद्रबाहु गम्भीर हो गये। उन्होंने कहा–जो संघ का अपमान करता है, वह श्रुतनिह्नव है। संघ से बहिष्कृत करने योग्य है। श्रमण-संघाटक ने पुनः

निवेदन किया–आपने भी संघ की बात को अस्वीकृत किया है, आप भी इस दण्ड के योग्य हैं ? "तित्थोगालिय" में प्रस्तुत प्रसंग पर श्रमण-संघ के द्वारा बारह प्रकार के संभोग विच्छेद का भी वर्णन है।

आचार्य भद्रबाहु को अपनी भूल का परिज्ञान हो गया। उन्होंने मधुर शब्दों में कहा–मैं संघ की आज्ञा का सम्मान करता हूँ। इस समय मैं महाप्राण की ध्यान-साधना में संलग्न हूँ। प्रस्तुत ध्यान साधना से चौदह पूर्व की ज्ञान राशि का मुहूर्त मात्र में परावर्तन कर लेने की क्षमता आ जाती है। अभी इसकी सम्पन्नता में कुछ समय अवशेष है। अतः मैं आने में असमर्थ हूँ। संघ प्रतिभासम्पन्न श्रमणों को यहाँ प्रेषित करे। मैं उन्हें साधना के साथ ही वाचना देने का प्रयास करूँगा।

"तित्थोगालिय"[४३] के अनुसार भद्रबाहु ने कहा–मैं एक अपवाद के साथ वाचना देने को तैयार हूँ। आत्महितार्थ, वाचना ग्रहणार्थ आने वाले श्रमण-संघ में बाधा उत्पन्न नहीं करूँगा। और वे भी मेरे कार्य में बाधक न बनें। कायोत्सर्ग सम्पन्न कर भिक्षार्थ आते-जाते समय और रात्रि में शयन-काल के पूर्व उन्हें वाचना प्रदान करता रहूँगा। "तथास्तु" कह वन्दन कर वहाँ से वे प्रस्थित हुए। संघ को संवाद सुनाया।

संघ ने महान् मेधावी उद्यमी स्थूलभद्र आदि को दृष्टिवाद के अध्ययन के लिये प्रेषित किया। परिशिष्ट पर्व[४४] के अनुसार पाँच सौ शिक्षार्थी नेपाल पहुँचे थे। "तित्थोगालिय"[४५] के अनुसार श्रमणों की संख्या पन्द्रह सौ थी। इनमें पाँच सौ श्रमण शिक्षार्थी थे और हजार श्रमण परिचर्या करने वाले थे। आचार्य भद्रबाहु प्रतिदिन उन्हें सात वाचना प्रदान करते थे। एक वाचना भिक्षाचर्या से आते समय, तीन वाचना विकाल वेला में और तीन वाचना प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि में प्रदान करते थे।

दृष्टिवाद अत्यन्त कठिन था। वाचना प्रदान करने की गति मन्द थी। मेधावी मुनियों का धैर्य ध्वस्त हो गया। चार सौ निन्यानवे शिक्षार्थी मुनि वाचना-क्रम को छोड़कर चले गये। स्थूलभद्र मुनि निष्ठा से अध्ययन में लगे रहे। आठ वर्ष में उन्होंने आठ पूर्वों का अध्ययन किया।[४६] आठ वर्ष के लम्बे समय में भद्रबाहु और स्थूलभद्र के बीच किसी भी प्रकार की वार्ता का उल्लेख नहीं मिलता। एक दिन स्थूलभद्र से भद्रबाहु ने पूछा–"तुम्हें भिक्षा एवं स्वाध्याय योग में किसी भी प्रकार का कष्ट तो नहीं है ?" स्थूलभद्र ने निवेदन किया–'मुझे कोई कष्ट नहीं है पर जिज्ञासा है कि मैंने आठ वर्षों में कितना अध्ययन किया है ? और कितना अवशिष्ट है ?' भद्रबाहु ने कहा–'वत्स ! सरसों जितना ग्रहण किया है, और मेरु जितना बाकी है। दृष्टिवाद के अगाध ज्ञान सागर से अभी तक तुम बिन्दुमात्र पाये हो।' स्थूलभद्र ने पुनः निवेदन किया 'भगवन् ! मैं हतोत्साह नहीं हूँ, किन्तु मुझे वाचना का लाभ स्वल्प मिल रहा है। आपके जीवन का सन्ध्याकाल है, इतने कम समय में वह विराट् ज्ञान राशि कैसे प्राप्त कर सकूँगा?' भद्रबाहु ने आश्वासन देते हुए कहा–'वत्स ! चिन्ता मत करो।

मेरा साधनाकाल संपन्न हो रहा है। अब मैं तुम्हें यथेष्ट वाचना दूँगा।' उन्होंने दो वस्तु कम दशपूर्वों की वाचना ग्रहण कर ली। तित्थोगालिय के अनुसार दश पूर्व पूर्ण कर लिये थे। और ग्यारहवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था। साधनाकाल सम्पन्न होने पर आर्य भद्रबाहु स्थूलभद्र के साथ पाटलिपुत्र आये। यक्षा आदि साध्वियाँ वन्दनार्थ गईं। स्थूलभद्र ने चमत्कार प्रदर्शित किया।[४७] जब वाचना ग्रहण करने के लिये स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा–'वत्स ! ज्ञान का अहं विकास में बाधक है। तुम ने शक्ति का प्रदर्शन कर अपने आप को अपात्र सिद्ध कर दिया है। अब तुम आगे की वाचना के लिये योग्य नहीं हो।' स्थूलभद्र को अपनी प्रमादवृत्ति पर अत्यधिक अनुताप हुआ। चरणों में गिर कर क्षमायाचना की और कहा–पुनः अपराध का आवर्त्तन नहीं होगा। आप मुझे वाचना प्रदान करें। प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई। स्थूलभद्र ने निवेदन किया–मैं पर-रूप का निर्माण नहीं करूँगा, अवशिष्ट चार पूर्व का ज्ञान देकर मेरी इच्छा पूर्ण करें।[४८] स्थूलभद्र के अत्यन्त आग्रह पर चार पूर्वों का ज्ञान इस अपवाद के साथ देना स्वीकार किया कि अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान आगे किसी को भी नहीं दे सकेगा। दश पूर्व तक उन्होंने अर्थ से ग्रहण किया था और शेष चार पूर्वों का ज्ञान शब्दशः प्राप्त किया था। उपदेशमाला विशेष वृत्ति, आवश्यकचूर्णि, तित्थोगालिय, परिशिष्टपर्व, प्रभृति ग्रन्थों में कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से यह वर्णन है।

दिगम्बर साहित्य के उल्लेखानुसार दुष्काल के समय बारह सहस्र श्रमणों से परिवृत होकर भद्रबाहु उज्जैन होते हुए दक्षिण की ओर बढ़े और सम्राट् चन्द्रगुप्त को दीक्षा दी। कितने ही दिगम्बर विज्ञों का यह मानना है कि दुष्काल के कारण श्रमणसंघ में मतभेद उत्पन्न हुआ। दिगम्बर श्रमण को निहार कर एक श्राविका का गर्भपात हो गया। जिससे आगे चलकर अर्ध फालग सम्प्रदाय प्रचलित हुआ।[४९] अकाल के कारण वस्त्र-प्रथा का प्रारम्भ हुआ। यह कथन साम्प्रदायिक मान्यता को लिये हुए है। पर ऐतिहासिक सत्य-तथ्य को लिये हुए नहीं है। कितने दिगम्बर मूर्धन्य मनीषियों का यह मानना है कि श्वेताम्बर आगमों की संरचना शिथिलाचार के संपोषण हेतु की गयी है। यह भी सर्वथा निराधार कल्पना है। क्योंकि श्वेताम्बर आगमों के नाम दिगम्बर मान्य ग्रन्थों में भी प्राप्त हैं।[५०]

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि नेपाल जाकर योग की साधना करने वाले भद्रबाहु और उज्जैन होकर दक्षिण की ओर बढ़ने वाले भद्रबाहु, एक व्यक्ति नहीं हो सकते। दोनों के लिये चतुर्दशपूर्वी लिखा गया है। यह उचित नहीं है। इतिहास के लम्बे अन्तराल में इस तथ्य को दोनों परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। प्रथम भद्रबाहु का समय वीर-निर्वाण की द्वितीय शताब्दी है तो द्वितीय भद्रबाहु का समय वीर-निर्वाण की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् है। प्रथम भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वी और छेद सूत्रों के रचनाकार थे।[५१] द्वितीय भद्रबाहु वराहमिहिर के भ्राता थे। राजा चन्द्रगुप्त का

सम्बन्ध प्रथम भद्रबाहु के साथ न होकर द्वितीय भद्रबाहु के साथ है। क्योंकि प्रथम भद्रबाहु का स्वर्गवासकाल वीरनिर्वाण एक सौ सत्तर (१७०) के लगभग है। एक सौ पचास वर्षीय नन्द साम्राज्य का उच्छेद और मौर्य शासन का प्रारम्भ वीर-निर्वाण दो सौ दस के आस-पास है। द्वितीय भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त अवन्ती का था, पाटलिपुत्र का नहीं। आचार्य देवसेन ने चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने वाले भद्रबाहु के लिये श्रुतकेवली विशेषण नहीं दिया है किन्तु निमित्तज्ञानी विशेषण दिया है।[५२] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी वे निमित्तवेत्ता थे। सम्राट चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फलादेश बताने वाले द्वितीय भद्रबाहु ही होने चाहिये। मौर्यशासक चन्द्रगुप्त और अवन्ती के शासक चन्द्रगुप्त और दोनों भद्रबाहु की जीवन घटनाओं में एक सदृश नाम होने से संक्रमण हो गया है।

दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि दोनों भद्रबाहु समकालीन थे। एक भद्रबाहु ने नेपाल में महाप्राण नामक ध्यान-साधना की तो दूसरे भद्रबाहु ने राजा चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत की यात्रा की। पर इस कथन के पीछे परिपुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। हम पूर्व बता चुके हैं कि दुष्काल की विकट-वेला में भद्रबाहु विशाल श्रमण संघ के साथ बंगाल में समुद्र के किनारे रहे।[५३] संभव है उसी प्रदेश में उन्होंने छेदसूत्रों की रचना की हो। उसके पश्चात् महाप्राण की ध्यान साधना के लिये वे नेपाल पहुँचे हों। और दुष्काल के पूर्ण होने पर भी वे नेपाल में ही रहे हों। डाक्टर हर्मन जेकॉबी ने भी भद्रबाहु के नेपाल जाने की घटना का समर्थन किया है।

तित्थोगालिय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र में अंग-साहित्य की वाचना हुई थी। वहाँ अंगबाह्य आगमों की वाचना के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अंगबाह्य आगम उस समय नहीं थे। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार अंगबाह्य आगमों की रचनाएँ पाटलिपुत्र की वाचना से पहले हो चुकी थीं। क्योंकि वीर-निर्वाण (६४) चौंसठ में शय्यम्भव जैन श्रमण बने थे। और वीर-निर्वाण ७५ में वे आचार्य पद से अलंकृत हुए थे। उन्होंने अपने पुत्र अल्पायुष्य मुनि मणक के लिए आत्मप्रवाद से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया।[५४] वीर-निर्वाण के ८० वर्ष बाद इस महत्वपूर्ण सूत्र की रचना हुई थी। स्वयं भद्रबाहु ने भी छेदसूत्रों की रचनाएँ की थीं, जो उस समय विद्यमान थे। पर इन ग्रन्थों की वाचना के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है। पण्डित श्री दलसुख मालवणिया का अभिमत है कि आगम या श्रुत उस युग में अंग-ग्रन्थों तक ही सीमित था। बाद में चलकर श्रुतसाहित्य का विस्तार हुआ। और आचार्यकृत क्रमशः आगम की कोटि में रखा गया।[५५]

पाटलिपुत्र की वाचना के सम्बन्ध में दिगम्बर प्राचीन साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं है। यद्यपि दोनों ही परम्पराएँ भद्रबाहु को अपना आराध्य मानती हैं। आचार्य भद्रबाहु के शासनकाल में दो विभिन्न दिशाओं में बढ़ती हुई श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की नामशृंखला एक केन्द्र पर आ पहुँची थी। अब पुनः वह शृङ्खला विशृङ्खलित हो गयी थी।

द्वितीय वाचना

आगमसंकलन का द्वितीय प्रयास वीर-निर्वाण ३०० से ३३० के बीच हुआ। सम्राट खारवेल उड़ीसा प्रान्त के महाप्रतापी शासक थे। उन का अपर नाम "महामेघवाहन" था। इन्होंने अपने समय में एक बृहद् जैन सम्मेलन का आयोजन किया था, जिसमें अनेक जैन भिक्षु, आचार्य, विद्वान तथा विशिष्ट उपासक सम्मिलित हुए थे। सम्राट खारवेल को उनके कार्यों की प्रशस्ति के रूप में "धम्मराज" "भिक्खुराज" "खेमराज" जैसे विशिष्ट शब्दों से सम्बोधित किया गया है। हाथी गुफा (उड़ीसा) के शिलालेख में इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन है। हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार महामेघवाहन, भिक्षुराज खारवेल सम्राट ने कुमारी पर्वत पर एक श्रमण सम्मेलन का आयोजन किया था। प्रस्तुत सम्मेलन में महागिरि-परम्परा के बलिस्सह, बौद्धिलिङ्ग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य, प्रभृति दो सौ जिनकल्पतुल्य उत्कृष्ट साधना करने वाले श्रमण तथा आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिबद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य, प्रभृति तीन सौ स्थविरकल्पी श्रमण थे। आर्या पोइणी प्रभृति ३०० साध्वियाँ, भिक्खुराय, चूर्णक, सेलक, प्रभृति ७०० श्रमणोपासक और पूर्णमित्रा प्रभृति ७०० उपासिकाएँ विद्यमान थीं।

बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्य प्रभृति स्थविर श्रमणों ने सम्राट खारवेल की प्रार्थना को सन्मान देकर सुधर्मा-रचित द्वादशांगी का संकलन किया। उसे भोजपत्र, ताडपत्र, और वल्कल पर लिपिबद्ध कराकर आगम वाचना के ऐतिहासिक-पृष्ठों में एक नवीन अध्याय जोड़ा। प्रस्तुत वाचना भुवनेश्वर के निकट कुमारगिरि-पर्वत पर जो वर्तमान में खण्डगिरि, उदयगिरि पर्वत के नाम से विश्रुत है, वहाँ हुई थी, जहाँ पर अनेक जैन गुफाएँ हैं। जो कलिंग नरेश खारवेल महामेघवाहन के धार्मिक-जीवन की परिचायिका हैं। इस सम्मेलन में आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध दोनों सहोदर भी उपस्थित थे। कलिंगाधिप भिक्षुराज ने इन दोनों का विशेष सम्मान किया था।* हिमवन्त थेरावली के अतिरिक्त अन्य किसी जैन ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में उल्लेख नहीं है। खण्डगिरि और उदयगिरि में इस सम्बन्ध में जो विस्तृत लेख उत्कीर्ण है, उससे स्पष्ट परिज्ञात होता है कि उन्होंने आगम-वाचना के लिये सम्मेलन किया था।**

तृतीय वाचना

आगमों को संकलित करने का तृतीय प्रयास वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य हुआ। वीर-निर्वाण की नौवीं शताब्दी में पुनः द्वादश वर्षीय दुष्काल से श्रुत-विनाश का भीषण आघात जैन शासन को लगा। श्रमण-जीवन की मर्यादा के अनुकूल आहार की प्राप्ति अत्यन्त कठिन हो गयी। बहुत-से श्रुतसम्पन्न श्रमण काल के अंक में समा गये। सूत्रार्थग्रहण, परावर्त्तन के अभाव में श्रुत-सरिता सूखने लगी। अति विषम स्थिति थी। बहुत सारे मुनि सुदूर प्रदेशों में विहरण करने के लिये प्रस्थित हो चुके थे।

दुष्काल की परिसमाप्ति के पश्चात् मथुरा में श्रमण सम्मेलन हुआ। प्रस्तुत सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने संभाला।[५६] श्रुतसम्पन्न श्रमणों की उपस्थिति से सम्मेलन में चार चाँद लग गये। प्रस्तुत सम्मेलन में मधुमित्र, गन्धहस्ति, प्रभृति १५० श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र और स्कन्दिल ये दोनों आचार्य सिंह के शिष्य थे। आचार्य गन्धहस्ती मधुमित्र के शिष्य थे। इनका वैदुष्य उत्कृष्ट था। अनेक विद्वान श्रमणों के स्मृतपाठों के आधार पर आगम-श्रुत का संकलन हुआ था। आचार्य स्कन्दिल की प्रेरणा से गन्धहस्ती ने ग्यारह अंगों का विवरण लिखा। मथुरा के ओसवाल वंशज सुश्रावक ओसालक ने गन्धहस्ती-विवरण सहित सूत्रों को ताडपत्र पर उट्टङ्कित करवा कर निर्ग्रन्थों को समर्पित किये। आचार्य गन्धहस्ती को ब्रह्मदीपिक शाखा में मुकुटमणि माना गया है।

प्रभावकचरित के अनुसार आचार्य स्कन्दिल जैन शासन रूपी नन्दनवन में कल्पवृक्ष के समान हैं। समग्र श्रुतानुयोग को अंकुरित करने में महामेघ के समान थे। चिन्तामणि के समान वे इष्टवस्तु के प्रदाता थे।[५७]

यह आगमवाचना मथुरा में होने से माथुरी वाचना कहलायी। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में होने से स्कन्दिली वाचना के नाम से इसे अभिहित किया गया। जिनदास गणि महत्तर ने[५८] यह भी लिखा है कि दुष्काल के क्रूर आघात से अनुयोगधर मुनियों में केवल एक स्कन्दिल ही बच पाये थे। उन्होंने मथुरा में अनुयोग का आवर्तन किया था। अतः यह वाचना स्कन्दिली नाम से विश्रुत हुई।

प्रस्तुत वाचना में भी पाटलिपुत्र की वाचना की तरह केवल अंग सूत्रों की ही वाचना हुई। क्योंकि नन्दीसूत्र की चूर्णि[५९] में अंगसूत्रों के लिये कालिक शब्द व्यवहृत हुआ है। अंगबाह्य आगमों की वाचना या संकलना का इस समय भी प्रयास हुआ हो, ऐसा पुष्ट प्रमाण नहीं है। पाटलिपुत्र में जो अंगों की वाचना हुई थी उसे ही पुनः व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया था। नन्दीसूत्र के[६०] अनुसार जो वर्तमान में आगम-विद्यमान हैं वे माथुरी वाचना के अनुसार हैं। पहले जो वाचना हुई थी, वह पाटलिपुत्र में हुई थी, जो बिहार में था। उस समय बिहार जैनों का केन्द्र रहा था। किन्तु माथुरी वाचना के समय बिहार से हटकर उत्तर प्रदेश केन्द्र हो गया था। मथुरा से ही कुछ श्रमण दक्षिण की ओर आगे बढ़े थे। जिसका सूचन हमें दक्षिण में विश्रुत माथुरी संघ के अस्तित्व से प्राप्त होता है।[६१]

नन्दीसूत्र की चूर्णि और मलयगिरि वृत्ति के अनुसार यह माना जाता है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुतज्ञान कुछ भी नष्ट नहीं हुआ था। केवल आचार्य स्कन्दिल के अतिरिक्त शेष अनुयोगधर श्रमण स्वर्गस्थ हो गये थे। एतदर्थ आचार्य स्कन्दिल ने पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया, जिससे सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल-सम्बन्धी माना गया।

चतुर्थ वाचना

जिस समय उत्तर-पूर्व और मध्य भारत में विचरण करने वाले श्रमणों का सम्मेलन मथुरा में हुआ था, उसी समय दक्षिण और पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणों की एक वाचना वीरनिर्वाण संवत् ८२७ से ८४० के आस-पास वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इसे 'वल्लभीवाचना' या 'नागार्जुनीयवाचना' की संज्ञा मिली। इस वाचना का उल्लेख भद्रेश्वर रचित कहावली ग्रन्थ में मिलता है, जो आचार्य हरिभद्र के बाद हुए हैं।[६२] स्मृति के आधार पर सूत्र-संकलना होने के कारण वाचनाभेद रह जाना स्वाभाविक था।[६३] पण्डित दलसुख मालवणिया ने[६४] प्रस्तुत वाचना के सम्बन्ध में लिखा है–"कुछ चूर्णियों में नागार्जुन के नाम से पाठान्तर मिलते हैं। पण्णवणा जैसे अंगबाह्य सूत्र में भी पाठान्तर का निर्देश है। अतएव अनुमान किया गया कि नागार्जुन ने भी वाचना की होगी।..... किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मौजूदा अंग आगम माथुरीवाचानानुसारी हैं, यह तथ्य है। अन्यथा पाठान्तरों में स्कन्दिल के पाठान्तरों का भी निर्देश मिलता।[६५] अंग और अन्य अंगबाह्य ग्रन्थों की व्यक्तिगत रूप से कई वाचनाएँ होनी चाहिये थीं। क्योंकि आचारांग आदि आगम साहित्य की चूर्णियों में जो पाठ मिलते हैं उनसे भिन्न पाठ टीकाओं में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। जिससे यह तो सिद्ध है कि पाटलिपुत्र की वाचना के पश्चात् समय-समय पर मूर्धन्य मनीषी आचार्यों के द्वारा वाचनाएँ होती रही हैं।[६६] उदाहरण के रूप में हम प्रश्नव्याकरण को ले सकते हैं। समवायाङ्ग में प्रश्नव्याकरण का जो परिचय दिया गया है, वर्तमान में उसका वह स्वरूप नहीं है। आचार्य श्री अभयदेव ने प्रश्नव्याकरण की टीका में लिखा है कि अतीत काल में वे सारी विद्याएँ इसमें थीं।[६७] इसी तरह अन्तकृत्दशा में भी दश अध्ययन नहीं हैं। टीकाकार ने स्पष्टीकरण में यह सूचित किया है कि प्रथम वर्ग में दश अध्ययन हैं।[६८] पर यह निश्चित है कि क्षत-विक्षत आगम-निधि का ठीक समय पर संकलन कर आचार्य नागार्जुन ने जैन शासन पर महान् उपकार किया है। इसीलिये आचार्य देववाचक ने बहुत ही भावपूर्ण शब्दों में नागार्जुन की स्तुति करते हुए लिखा है–मृदुता आदि गुणों से सम्पन्न, सामायिक श्रुतादि के ग्रहण से अथवा परम्परा से विकास की भूमिका पर क्रमशः आरोहणपूर्वक वाचकपद को प्राप्त ओघश्रुतसमाचारी में कुशल आचार्य नागार्जुन को मैं प्रणाम करता हूँ।[६९]

दोनों वाचनाओं का समय लगभग समान है। इसलिये सहज ही यह प्रश्न उद्‌बुद्ध होता है कि एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न स्थलों पर वाचनाएँ क्यों आयोजित की गईं ? जो श्रमण वल्लभी में एकत्र हुए थे वे मथुरा भी जा सकते थे। फिर क्यों नहीं गये ? उत्तर में कहा जा सकता है–उत्तर भारत और पश्चिम भारत के श्रमण संघ में किन्हीं कारणों से मतभेद रहा हो, उनका मथुरा की वाचना को समर्थन न रहा हो। उस वाचना की गति-विधि और कार्यक्रम की पद्धति व नेतृत्व में पश्चिम का

श्रमणसंघ सहमत न हो। यह भी सम्भव है कि माथुरी वाचना पूर्ण होने के बाद इस वाचना का प्रारम्भ हुआ हो। उनके अन्तर्मानस में यह विचार-लहरियाँ तरंगित हो रही हों कि मथुरा में आगम-संकलन का जो कार्य हुआ है, उस से हम अधिक श्रेष्ठतम कार्य करेंगे। संभव है इसी भावना से उत्प्रेरित होकर कालिक श्रुत के अतिरिक्त भी अंग-बाह्य व प्रकरणग्रन्थों का संकलन और आकलन किया गया हो। या सविस्तृत पाठ वाले स्थल अर्थ की दृष्टि से सुव्यवस्थित किये गये हों।

इस प्रकार अन्य भी अनेक संभावनाएँ की जा सकती हैं। पर उन का निश्चित आधार नहीं है। यही कारण है कि माथुरी और वल्लभी वाचनाओं में कई स्थानों पर मतभेद हो गये। यदि दोनों श्रुतधर आचार्य परस्पर मिल कर विचार-विमर्श करते तो संभवतः वाचनाभेद मिटता। किन्तु परिताप है कि न वे वाचना से पूर्व मिले और न बाद में ही मिले। वाचनाभेद उनके स्वर्गस्थ होने बाद भी बना रहा, जिससे वृत्तिकारों को **'नागार्जुनीया पुनः एवं पठन्ति'** आदि वाक्यों का निर्देश करना पड़ा।

पञ्चम वाचना

वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ सन् ४५४-४६६) में देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण की अध्यक्षता में पुनः श्रमण-संघ एकत्रित हुआ। स्कन्दिल और नागार्जुन के पश्चात् दुष्काल ने हृदय को कँपा देने वाले नाखूनी पंजे फैलाये। अनेक श्रुतधर श्रमण काल-कवलित हो गये। श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद वल्लभी में पुनः जैन संघ सम्मिलित हुआ। देवर्द्धिगणि ग्यारह अंग और एक पूर्व से भी अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। श्रमण-सम्मेलन में त्रुटित और अत्रुटित सभी आगमपाठों का स्मृति-सहयोग से संकलन हुआ। श्रुत को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए उसे पुस्तकारूढ़ किया गया। आगम-लेखन का कार्य आर्यरक्षित के युग में अंश रूप से प्रारम्भ हो गया था। अनुयोगद्वार में द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का उल्लेख है। पुस्तक लिखित श्रुत को द्रव्यश्रुत माना गया है।[७०]

आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय में भी आगमों को लिपिबद्ध किया गया था। ऐसा उल्लेख मिलता है।[७१] किन्तु देवर्द्धिगणि के कुशल नेतृत्व में आगमों का व्यवस्थित संकलन और लिपिकरण हुआ है, इसलिये आगम-लेखन का श्रेय देवर्द्धिगणि को प्राप्त है। इस सन्दर्भ में एक प्रसिद्ध गाथा है कि वल्लभी नगरी में देवर्द्धिगणि प्रमुख श्रमण संघ ने वीर-निर्वाण ९८० में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया था।[७२]

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समक्ष स्कन्दिली और नागार्जुनीय ये दोनों वाचनाएं थीं, नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि आचार्य कालक (चतुर्थ) थे। स्कन्दिली वाचना के प्रतिनिधि स्वयं देवर्द्धिगणि थे। हम पूर्व लिख चुके हैं कि आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन दोनों का मिलन न होने से दोनों वाचनाओं में कुछ भेद था।[७३] देवर्द्धिगणि ने श्रुतसंकलन का कार्य बहुत ही तटस्थ नीति से किया। आचार्य स्कन्दिल की वाचना को

प्रमुखता देकर नागार्जुनीय वाचना को पाठान्तर के रूप में स्वीकार कर अपने उदात्त मानस का परिचय दिया, जिससे जैनशासन विभक्त होने से बच गया। उनके भव्य प्रयत्न के कारण ही श्रुतनिधि आज तक सुरक्षित रह सकी।

आचार्य देवर्द्धिगणि ने आगमों को पुस्तकारूढ़ किया। यह बात बहुत ही स्पष्ट है। किन्तु उन्होंने किन-किन आगमों को पुस्तकारूढ़ किया ? इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। नन्दीसूत्र में श्रुतसाहित्य की लम्बी सूची है। किन्तु नन्दीसूत्र देवर्द्धिगणी की रचना नहीं है। उसके रचनाकार आचार्य देववाचक हैं। यह बात नन्दीचूर्णि और टीका से स्पष्ट है।[७४] इस दृष्टि से नन्दी सूची में जो नाम आये हैं, वे सभी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के द्वारा लिपिबद्ध किये गये हों, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पण्डित दलसुख मालवणिया[७५] का यह अभिमत है कि अंगसूत्रों को तो पुस्तकारूढ़ किया ही गया था और जितने अंगबाह्य ग्रन्थ, जो नन्दी से पूर्व के हैं, वे पहले से ही पुस्तकारूढ़ होंगे। नन्दी की आगमसूची में ऐसे कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ हैं, जिनके रचयिता देवर्द्धिगणि के बाद के आचार्य हैं। सम्भव है उन ग्रन्थों को बाद में आगम की कोटि में रखा गया हो।

कितने ही विज्ञों का यह अभिमत है कि वल्लभी में सारे आगमों को व्यवस्थित रूप दिया गया। भगवान् महावीर के पश्चात् एक सहस्र वर्ष में जितनी भी मुख्य-मुख्य घटनाएँ घटित हुईं, उन सभी प्रमुख घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहाँ-जहाँ पर समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्त्तन होता था, उन आलापकों को संक्षिप्त कर एक दूसरे का पूर्तिसंकेत एक-दूसरे आगम में किया गया। जो वर्तमान में आगम उपलब्ध हैं, वे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें परिवर्तन और परिवर्धन नहीं हुआ।[७६]

यह सहज ही जिज्ञासा उद्‌बुद्ध हो सकती है कि आगम-संकलना यदि एक ही आचार्य की है तो अनेक स्थानों पर विसंवाद क्यों है ? उत्तर में निवेदन है कि सम्भव है उसके दो कारण हों। जो श्रमण उस समय विद्यमान थे उन्हें जो-जो आगम कण्ठस्थ थे उन्हीं का संकलन किया गया था। संकलनकर्त्ता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने एक ही बात दो भिन्न आगमों में भिन्न प्रकार से कही है, यह जानकर के भी उसमें हस्तक्षेप करना अपनी अनधिकार चेष्टा समझी हो। वे समझते थे कि सर्वज्ञ की वाणी में परिवर्तन करने से अनन्त संसार बढ़ सकता है। दूसरी बात यह भी हो सकती है– नौवीं शताब्दी में सम्पन्न हुई माथुरी और वल्लभी वाचना की परम्परा के जो श्रमण बचे थे, उन्हें जितना ज्ञान स्मृति में था, उतना ही देवर्द्धिगणि ने संकलन किया था, सम्भव है वे श्रमण बहुत सारे आलापक भूल हो गये हों, जिससे भी विसंवाद हुए हैं।[७७]

ज्योतिषकरण्ड की वृत्ति[७८] में यह प्रतिपादित किया गया है कि इस समय जो अनुयोगद्वार सूत्र उपलब्ध है, वह माथुरी वाचना का है। ज्योतिषकरण्ड ग्रन्थ के लेखक आचार्य वल्लभी परम्परा की वाचना के थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वार और ज्योतिषकरण्ड के संख्यास्थानों में अन्तर है। अनुयोगद्वार में शीर्षप्रहेलिका की

संख्या एक सौ छानवे (१९६) अंकों की है और ज्योतिषकरण्ड में शीर्षप्रहेलिका की संख्या २५० अंकों की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमों को व्यवस्थित करने के लिये समय-समय पर प्रयास किया गया है। व्याख्याक्रम और विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्य रक्षित ने आगमों को चार भागों में विभक्त किया है–(१) चरणकरणानुयोग–कालिकश्रुत, (२) धर्मकथानुयोग–ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि, (३) गणितानुयोग–सूर्यप्रज्ञप्ति आदि। (४) द्रव्यानुयोग–दृष्टिवाद या सूत्रकृत् आदि। प्रस्तुत वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप हैं–(१) अपृथक्त्वानुयोग, (२) पृथक्त्वानुयोग। आर्य रक्षित से पहले अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था। उसमें प्रत्येक सूत्र का चरण-करण, धर्मकथा, गणित और द्रव्य दृष्टि से विश्लेषण किया जाता था। यह व्याख्या अत्यन्त ही जटिल थी। इस व्याख्या के लिये प्रकृष्ट प्रतिभा की आवश्यकता होती थी। आर्य रक्षित ने देखा–महामेधावी दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसे प्रतिभासम्पन्न शिष्य भी उसे स्मरण नहीं रख पा रहे हैं, तो मन्दबुद्धि वाले श्रमण उसे कैसे स्मरण रख सकेंगे ? उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया जिससे चरण-करण प्रभृति विषयों की दृष्टि से आगमों का विभाजन हुआ।[७९] जिनदासगणि महत्तर ने लिखा है कि अपृथक्त्वानुयोग के काल में प्रत्येक सूत्र का विवेचन चरण-करण आदि चार अनुयोगों तथा ७०० नयों से किया जाता था। पृथक्त्वानुयोग के काल में चारों अनुयोगों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जाने लगी।[८०]

नन्दीसूत्र में आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य, इन दो भागों में विभक्त किया है।[८१] अंगबाह्य के आवश्यक, आवश्यकव्यतिरिक्त, कालिक, उत्कालिक आदि अनेक भेद-प्रभेद किये हैं। दिगम्बर परम्परा के तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरीय वृत्ति में भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो आगम के भेद किये हैं।[८२] अंगबाह्य आगमों की सूची में श्वेताम्बर और दिगम्बर में मतभेद हैं। किन्तु दोनों ही परम्पराओं में अंगप्रविष्ट के नाम एक सदृश मिलते हैं, जो प्रचलित हैं।

श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी सभी अंगसाहित्य को मूलभूत आगमग्रन्थ मानते हैं, और सभी की दृष्टि से दृष्टिवाद का सर्वप्रथम विच्छेद हुआ है। यह पूर्ण सत्य है कि जैन आगम साहित्य चिन्तन की गम्भीरता को लिये हुए है। तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म व गहन विश्लेषण उस में है। पाश्चात्य चिन्तक डॉ. हर्मन जेकोबी ने अंगशास्त्र की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे अंगशास्त्र को वस्तुतः जैनश्रुत मानते हैं, उसी के आधार पर उन्होंने जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास किया है, और वे उस में सफल भी हुए हैं।[८३]

'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' ग्रन्थ में मैंने बहुत विस्तार के साथ आगम-साहित्य के हर पहलू पर चिन्तन किया है। विस्तारभय से उन सभी विषयों पर चिन्तन न कर उस ग्रन्थ को देखने का सूचन करता हूं। यहाँ अब हम स्थानांगसूत्र के सम्बन्ध में चिन्तन करेंगे। ●●

स्थानांग : स्वरूप और परिचय

द्वादशांगी में स्थानांग का तृतीय स्थान है। यह शब्द 'स्थान' और 'अंग' इन दो शब्दों के मेल से निर्मित हुआ है। 'स्थान' शब्द अनेकार्थी है। आचार्य देववाचक[९४] ने और गुणधर[९५] ने लिखा है कि प्रस्तुत आगम में एक स्थान से लेकर दश स्थान तक जीव और पुद्गल के विविध भाव वर्णित हैं, इसलिये इस का नाम 'स्थान' रखा गया है। जिनदास गणि महत्तर ने[९६] लिखा है–जिसका स्वरूप स्थापित किया जाय व ज्ञापित किया जाय वह स्थान है। आचार्य हरिभद्र ने[९७] कहा है–जिस में जीवादि का व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया जाता है, वह स्थान है। 'उपदेशमाला' में स्थान का अर्थ "मान" अर्थात् परिमाण दिया है। प्रस्तुत आगम में तत्त्वों के एक से लेकर दश तक संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख है, अतः इसे 'स्थान' कहा गया है। स्थान शब्द का दूसरा अर्थ "उपपुक्त" भी है। इस में तत्त्वों का क्रम से उपयुक्त चुनाव किया गया है। स्थान शब्द का तृतीय अर्थ "विश्रान्तिस्थल" भी है, और अंग का सामान्य अर्थ "विभाग" है। इस में संख्याक्रम से जीव, पुद्गल, आदि की स्थापना की गई है। अतः इस का नाम 'स्थान' या 'स्थानांग' है।

आचार्य गुणधर[९८] ने स्थानांग का परिचय प्रदान करते हुए लिखा है कि स्थानांग में संग्रहनय की दृष्टि से जीव की एकता का निरूपण है तो व्यवहार नय की दृष्टि से उस की भिन्नता का भी प्रतिपादन किया गया है। संग्रहनय की अपेक्षा चैतन्य गुण की दृष्टि से जीव एक है। व्यवहार नय की दृष्टि से प्रत्येक जीव अलग-अलग है। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से वह दो भागों में विभक्त है। इस तरह स्थानांग सूत्र में संख्या की दृष्टि से जीव, अजीव, प्रभृति द्रव्यों की स्थापना की गयी है। पर्याय की दृष्टि से एक तत्त्व अनन्त भागों में विभक्त होता है और द्रव्य की दृष्टि से वे अनन्त भाग एक तत्त्व में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार भेद और अभेद की दृष्टि से व्याख्या, स्थानांग में है।

स्थानांग और समवायांग–इन दोनों आगमों में विषय को प्रधानता न देकर संख्या को प्रधानता दी गई है। संख्या के आधार पर विषय का संकलन-आकलन किया गया है। एक विषय की दूसरे विषय के साथ इस में सम्बन्ध की अन्वेषणा नहीं की जा सकती। जीव, पुद्गल, इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, दर्शन, आचार, मनोविज्ञान, आदि शताधिक विषय बिना किसी क्रम के इस में संकलित किये गये हैं। प्रत्येक विषय पर विस्तार से चिन्तन न कर संख्या की दृष्टि से आकलन किया गया है। प्रस्तुत

आगम में अनेक ऐतिहासिक सत्य-कथ्य रहे हुए हैं। यह एक प्रकार से कोश की शैली में ग्रथित आगम है, जो स्मरण करने की दृष्टि से बहुत ही उपदोगी है। जिस युग में आगम-लेखन की परम्परा नहीं थी, संभवतः उस समय कण्ठस्थ रखने की सुविधा के लिये यह शैली अपनाई गयी हो। यह शैली जैन परम्परा के आगमों में ही नहीं, वैदिक और बौद्धपरम्परा के ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है। महाभारत के वनपर्व, अध्याय एक सौ चौंतीस में भी इसी शैली में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय, पुग्गल पञ्ञति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्मसंग्रह में यही शैली दृष्टिगोचर होती है।

जैन आगम साहित्य में तीन प्रकार के स्थविर बताये हैं। उन में श्रुतस्थविर के लिये 'ठाण-समवायधरे' यह विशेषण आया है। इस विशेषण से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम का कितना अधिक महत्त्व रहा है।[८९] आचार्य अभयदेव ने स्थानांग की वाचना कब लेनी चाहिए, इस सम्बन्ध में लिखा है कि दीक्षा पर्याय की दृष्टि से आठवें वर्ष में स्थानांग की वाचना देनी चाहिये। यदि आठवें वर्ष से पहले कोई वाचना देता है तो उसे आज्ञा भंग आदि दोष लगते हैं।[९०]

व्यवहारसूत्र के अनुसार स्थानांग और समवायांग के ज्ञाता को ही आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देने का विधान है। इसलिये इस अंग का कितना गहरा महत्त्व रहा हुआ है, यह इस विधान से स्पष्ट है।[९१]

समवायांग और नन्दीसूत्र में स्थानांग का पारेचय दिया गया है। नन्दीसूत्र में स्थानांग की जो विषयसूची आई है वह समवायांग की अपेक्षा संक्षिप्त है। समवायांग अंग होने के कारण नन्दीसूत्र से बहुत प्राचीन है, समवायांग की अपेक्षा नन्दीसूत्र में विषय सूची संक्षिप्त क्यों हुई ? यह आगम-मर्मज्ञों के लिये चिन्तनीय प्रश्न है।

समवायांग के अनुसार स्थानांग की विषयसूची इस प्रकार है–

(१) स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त और स्व-पर-सिद्धान्त का वर्णन है।

(२) जीव, अजीव और जीवाजीव का कथन।

(३) लोक, अलोक और लोकालोक का कथन।

(४) द्रव्य के गुण, और विभिन्न क्षेत्रकालवर्ती पर्यायों पर चिन्तन।

(५) पर्वत, पानी, समुद्र, देव, देवों के प्रकार, पुरुषों के विभिन्न प्रकार, स्वरूप, गोत्र, नदियों, निधियों, और ज्योतिष्क देवों की विविध गतियों का वर्णन।

(६) एक प्रकार, दो प्रकार, यावत् दस प्रकार के लोक में रहने वाले जीवों और पुद्गलों का निरूपण किया गया है।

नन्दीसूत्र में स्थानांग की विषयसूची इस प्रकार है–प्रारम्भ में तीन नम्बर तक समवायांग की तरह ही विषय का निरूपण है किन्तु व्युक्रम से है। चतुर्थ और पाँचवें

नम्बर की सूची बहुत ही संक्षेप में है। जैसे टंक, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, गुफा, आकर, द्रह और सरिताओं का कथन है। छठे नम्बर में कही हुई बात नन्दी में भी इसी प्रकार है।

समवायांग[९२] व नन्दीसूत्र[९३] के अनुसार स्थानांग की वाचनाएं संख्येय हैं, उसमें संख्यात श्लोक हैं, संख्यात संग्रहणियाँ हैं। अंगसाहित्य में उस का तृतीय स्थान है। उस में एक श्रुतस्कन्ध है, दश अध्ययन हैं। इक्कीस उद्देशनकाल हैं। बहत्तर हजार पद हैं। संख्यात अक्षर हैं यावत् जिन प्रज्ञप्त पदार्थों का वर्णन है।

स्थानांग में दश अध्ययन हैं। दश अध्ययनों का एक ही श्रुतस्कन्ध है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्ययन के चार-चार उद्देशक हैं। पंचम अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। शेष छह अध्ययनों में एक-एक उद्देशक हैं। इस प्रकार इक्कीस उद्देशक हैं। समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार स्थानांग की पदसंख्या बहत्तर हजार कही गई है। आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स्थानांग की सटीक प्रति में सात सौ तिरासी (७८३) सूत्र हैं। यह निश्चित है कि वर्तमान में उपलब्ध स्थानांग में बहत्तर हजार पद नहीं हैं। वर्तमान में प्रस्तुत सूत्र का पाठ ३७७० श्लोक परिमाण है।

स्थानांगसूत्र ऐसा विशिष्ट आगम है जिसमें चारों ही अनुयोगों का समावेश है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी "कमल" ने लिखा है कि "स्थानांग में द्रव्यानुयोग की दृष्टि से ४२६ सूत्र, चरणानुयोग की दृष्टि से २१४ सूत्र, गणितानुयोग की दृष्टि से १०९ सूत्र और धर्मकथानुयोग की दृष्टि से ५१ सूत्र हैं। कुल ८०० सूत्र हुए। जब कि मूल सूत्र ७८३ हैं। उन में कितने ही सूत्रों में एक-दूसरे अनुयोग से सम्बन्ध है। अतः अनुयोग-वर्गीकरण की दृष्टि से सूत्रों की संख्या में अभिवृद्धि हुई है।"

क्या स्थानांग अर्वाचीन है ?

स्थानांग में श्रमण भगवान् महावीर के पश्चात् दूसरी से छठी शताब्दी तक की अनेक घटनाएँ उल्लिखित हैं, जिससे विद्वानों को यह शंका हो गयी है कि प्रस्तुत आगम अर्वाचीन है। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं–

(१) नवें स्थान में गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारण गण, उडुवातितगण, विस्सवातितगण, कामड्ढिगण, माणवगण और कोडितगण इन गणों की उत्पत्ति का विस्तृत उल्लेख कल्पसूत्र में है।[९४] प्रत्येक गण की चार-चार शाखाएं, उद्देह आदि गणों के अनेक कुल थे। ये सभी गण श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् दो सौ से पाँच सौ वर्ष की अवधि तक उत्पन्न हुए थे।

(२) सातवें स्थान में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल, इन सात निह्नवों का वर्णन है। इन सात निह्नवों में से दो निह्नव भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद हुए और शेष पाँच निर्वाण के बाद हुए।[९५]

इनका अस्तित्वकाल भगवान् महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति के चौदह वर्ष बाद से निर्वाण के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् तक का है।[९६] अर्थात् वे तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य में हुए।

उत्तर में निवेदन है कि जैन दृष्टि से श्रमण भगवान् महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे। अतः वे पश्चात् होने वाली घटनाओं का संकेत करें, इसमें किसी भी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। जैसे–नवम स्थान में आगामी उत्सर्पिणी-काल के भावी तीर्थंकर महापद्म का चरित्र दिया है। और भी अनेक भविष्य में होने वाली घटनाओं का उल्लेख है।

दूसरी बात यह है कि पहले आगम श्रुति-परम्परा के रूप में चले आ रहे थे। वे आचार्य स्कन्दिल और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय लिपिबद्ध किये गये। उस समय वे घटनाएँ, जिनका प्रस्तुत आगम में उल्लेख है, घटित हो चुकी थीं। अतः जन-मानस में भ्रान्ति उत्पन्न न हो जाए, इस दृष्टि से आचार्य प्रवरों ने भविष्यकाल के स्थान पर भूतकाल की क्रिया देकर उस समय तक घटित घटनाएँ इसमें संकलित कर दी हों। इस प्रकार दो-चार घटनाएँ भूतकाल की क्रिया में लिखने मात्र से प्रस्तुत आगम गणधरकृत नहीं है, इस प्रकार प्रतिपादन करना उचित नहीं हैं।

यह संख्या-निबद्ध आगम है। इसमें सभी प्रतिपाद्य विषयों का समावेश एक से दस तक की संख्या में किया गया है। एतदर्थ ही इसके दश अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन में संग्रहनय की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। संग्रहनय अभेद दृष्टिप्रधान है। स्वजाति के विरोध के बिना समस्त पदार्थों का एकत्व में संग्रह करना अर्थात् अस्तित्वधर्म को न छोड़कर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों का सामान्य रूप से ज्ञान करना संग्रहनय है।

आत्मा एक है। यहाँ द्रव्यदृष्टि से एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। जम्बूद्वीप एक है। क्षेत्र की दृष्टि से एकत्व विवक्षित है। एक समय में एक ही मन होता है। यह काल की दृष्टि से एकत्व निरूपित है। शब्द एक है। यह भाव की दृष्टि से एकत्व का प्रतिपादन है। इस तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तुतत्त्व पर चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत स्थान में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की सूचनाएँ भी हैं। जैसे–भगवान् महावीर अकेले ही परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे। मुख्य रूप से तो द्रव्यानुयोग और चरणकरणानुयोग से सम्बन्धित वर्णन है।

प्रत्येक अध्ययन की एक ही संख्या के लिये स्थान शब्द व्यवहृत हुआ है। आचार्य अभयदेव ने "स्थान" के साथ अध्ययन भी कहा है।[९७] अन्य अध्ययनों की अपेक्षा आकार की दृष्टि से यह अध्ययन छोटा है। बीज रूप से जिन विषयों का संकेत इस स्थान में किया गया है, उनका विस्तार अगले स्थानों में उपलब्ध है। आधार की दृष्टि से प्रथम स्थान का अपना महत्त्व है।

द्वितीय स्थान में दो की संख्या से सम्बद्ध विषयों का वर्गीकरण किया गया है। इस स्थान का प्रथम सूत्र है–"जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं"।

जैन दर्शन चेतन और अचेतन ये दो मूल तत्त्व मानता है। शेष सभी भेद-प्रभेद उसके अवान्तर प्रकार हैं। यों जैन दर्शन में अनेकान्तवाद को प्रमुख स्थान है। अपेक्षादृष्टि से वह द्वैतवादी भी है और अद्वैतवादी भी है। संग्रहनय की दृष्टि से अद्वैत सत्य है। चेतन में अचेतन का और अचेतन में चेतन का अत्यन्ताभाव होने से द्वैत भी सत्य है। प्रथम स्थान में अद्वैत का निरूपण है, तो द्वितीय स्थान में द्वैत का प्रतिपादन है। पहले स्थान में उद्देशक नहीं है, द्वितीय स्थान में चार उद्देशक हैं। पहले स्थान की अपेक्षा यह स्थान बड़ा है।

प्रस्तुत स्थान में जीव और अजीव, त्रस और स्थावर, सयोनिक और अयोनिक, आयुरहित और आयु सहित, धर्म और अधर्म, बन्ध और मोक्ष आदि विषयों की संयोजना है। भगवान् महावीर के युग में मोक्ष के सम्बन्ध में दार्शनिकों की विविध-धारणाएं थीं। कितने ही विद्या से मोक्ष मानते थे और कितने ही आचरण से। जैन दर्शन अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को लिये हुए है। उस का यह वज्र आघोष है कि न केवल विद्या से मोक्ष है और न केवल आचरण से। वह इन दोनों के समन्वित रूप को मोक्ष का साधन स्वीकार करता है। भगवान् महावीर की दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं का मूल हिंसा और परिग्रह है। इन का त्याग करने पर ही बोधि की प्राप्ति होती है। सत्य का अनुभव होता है। इस में प्रमाण के दो भेद बताये हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो प्रकार है–केवलज्ञान प्रत्यक्ष और नो-केवलज्ञान प्रत्यक्ष। इस प्रकार इस में तत्त्व, आचार, क्षेत्र, काल, प्रभृति अनेक विषयों का निरूपण है। विविध दृष्टियों से इस स्थान का महत्त्व है। कितनी ही ऐसी बातें इस स्थान में आयी हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

तृतीय स्थान में तीन की संख्या से सम्बन्धित वर्णन है। यह चार उद्देशकों में विभक्त है। इस में तात्त्विक विषयों पर जहाँ अनेक त्रिभंगियाँ हैं, वहाँ मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर भी त्रिभंगियाँ हैं। त्रिभंगियों के माध्यम से शाश्वत सत्य का मार्मिक ढंग से उद्घाटन किया गया है। मानव के तीन प्रकार हैं। कितने ही मानव बोलने के बाद मन में अत्यन्त आह्लाद का अनुभव करते हैं और कितने ही मानव भयंकर दुःख का अनुभव करते हैं तो कितने ही मानव न सुख का अनुभव करते हैं और न दुःख का अनुभव करते हैं। जो व्यक्ति सात्त्विक, हित, मित, आहार करते हैं, वे आहार के बाद सुख की अनुभूति करते हैं। जो लोग अहितकारी या मात्रा से अधिक भोजन करते हैं, वे भोजन करने के पश्चात् दुःख का अनुभव करते हैं। जो साधक आत्मस्थ होते हैं, वे आहार के बाद बिना सुख-दुःख अनुभव किये तटस्थ रहते हैं। त्रिभंगी के माध्यम से विभिन्न मनोवृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

श्रमण-आचार संहिता के सम्बन्ध में तीन बातों के माध्यम से ऐसे रहस्य भी बताये हैं जो अन्य आगम साहित्य में बिखरे पड़े हैं। श्रमण तीन प्रकार के पात्र रख सकता है–तूम्बा, काष्ठ, मिट्टी का पात्र। निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थियाँ तीन कारणों से वस्त्र धारण कर सकते हैं–लज्जानिवारण, जुगुप्सानिवारण और परीषह-निवारण। दशवैकालिक[९८] में वस्त्रधारण के संयम और लज्जा ये दो कारण बताये हैं। उत्तराध्ययन[९९] में तीन कारण हैं–लोकप्रतीति, संयमयात्रा का निर्वाह और मुनित्व की अनुभूति। प्रस्तुत आगम में जुगुप्सानिवारण यह नया कारण दिया है। स्वयं की अनुभूति लज्जा है और लोकानुभूति जुगुप्सा है। नग्न व्यक्ति को निहार कर जन-मानस में सहज घृणा होती है। आवश्यक चूर्णि, महावीरचरियं, आदि में यह स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् महावीर को नग्नता के कारण अनेक बार कष्ट सहन करने पड़े थे। प्रस्तुत स्थान में अनेक महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है। तीन कारणों से अल्पवृष्टि, अनावृष्टि होती है। माता-पिता और आचार्य आदि के उपकारों से उऋण नहीं बना जा सकता।

चतुर्थ स्थान में चार की संख्या से सम्बद्ध विषयों का आकलन किया गया है। यह स्थान भी चार उद्देशकों में विभक्त है। तत्त्व जैसे दार्शनिक विषय को चौ-भंगियों के माध्यम से सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। अनेक चतुर्भंगियाँ मानव-मन का सफल चित्रण करती हैं। वृक्ष, फल, वस्त्र आदि वस्तुओं के माध्यम से मानव की मनोदशा का गहराई से विश्लेषण किया गया है। जैसे कितने ही वृक्ष मूल में सीधे रहते हैं, पर ऊपर जाकर टेढ़े बन जाते हैं। कितने ही मूल में सीधे रहते हैं और सीधे ही ऊपर बढ़ जाते हैं। कितने ही वृक्ष मूल में भी टेढ़े होते हैं और ऊपर जाकर भी टेढ़े ही होते हैं और कितने ही वृक्ष मूल में टेढ़े होते हैं और ऊपर जाकर सीधे हो जाते हैं। इसी तरह मानवों का स्वभाव होता है। कितने ही व्यक्ति मन से सरल होते हैं और व्यवहार से भी। कितने ही व्यक्ति हृदय से सरल होते हुए भी व्यवहार से कुटिल होते हैं। कितने ही व्यक्ति मन से सरल नहीं होते और बाह्य परिस्थितिवश सरलता का प्रदर्शन करते हैं, तो कितने ही व्यक्ति अन्तर् से भी कुटिल होते हैं और बाहर से भी कुटिल होते हैं।

विभिन्न मनोवृत्ति के लोग विभिन्न युग में होते हैं। देखिये कितनी मार्मिक चौभंगी –कितने ही मानव आम्रप्रलम्ब कोरक के सदृश होते हैं, जो सेवा करने वाले का योग्य समय में योग्य उपकार करते हैं। कितने ही मानव तालप्रलम्ब कोरक के सदृश होते हैं, जो दीर्घकाल तक सेवा करने वाले का अत्यन्त कठिनाई से योग्य उपकार करते हैं। कितने ही मानव वल्लीप्रलम्ब कोरक के सदृश होते हैं, जो सेवा करने वाले का सरलता से शीघ्र ही उपकार कर देते हैं। कितने ही मानव मेष-विषाण कोरक के सदृश होते हैं, जो सेवा करने वाले को केवल मधुर-वाणी के द्वारा प्रसन्न रखना चाहते हैं किन्तु उसका उपकार कुछ भी नहीं करना चाहते।

प्रसंगवश कुछ कथाओं के भी निर्देश प्राप्त होते हैं, जैसे अन्तक्रिया करने वाले चार व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमाल, सम्राट् सनत्कुमार और मरुदेवी। इस तरह विविध विषयों का संकलन है। यह स्थान एक तरह से अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सरस और ज्ञानवर्धक है।

पाँचवें स्थान में पाँच की संख्या से सम्बन्धित विषयों का संकलन हुआ है। यह स्थान तीन उद्देशकों में विभाजित है। तात्त्विक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, ज्योतिष, योग, प्रभृति अनेक विषय इस स्थान में आये हैं। कोई वस्तु अशुद्ध होने पर उसकी शुद्धि की जाती है। पर शुद्धि के साधन एक सदृश नहीं होते। जैसे मिट्टी शुद्धि का साधन है। उससे बर्तन आदि साफ किये जाते हैं। पानी शुद्धि का साधन है। उससे वस्त्र आदि स्वच्छ किये जाते हैं। अग्नि शुद्धि का साधन है। उससे स्वर्ण, रजत आदि शुद्ध किये जाते हैं। मन्त्र भी शुद्धि का साधन है, जिससे वायुमण्डल शुद्ध होता है। ब्रह्मचर्य शुद्धि का साधन है। उससे आत्मा विशुद्ध बनता है।

प्रतिमा साधना की विशिष्ट पद्धति है। जिसमें उत्कृष्ट तप की साधना के साथ कायोत्सर्ग की निर्मल साधना चलती है। इसमें भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोत्तरा प्रतिमाओं का उल्लेख है। जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिंग के भेद से पाँच प्रकार की आजीविका का वर्णन है। गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और माही नामक महानदियों को पार करने का निषेध किया गया है। चौबीस तीर्थंकरों में से वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ये पाँच तीर्थंकर कुमारावस्था में प्रव्रजित हुए थे। आदि अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रस्तुत स्थान में हुए हैं।

छठे स्थान में छह की संख्या से सम्बन्धित विषयों का संकलन किया है। यह स्थान उद्देशकों में विभक्त नहीं है। इसमें तात्विक, दार्शनिक, ज्योतिष और संघ-सम्बन्धी अनेक विषय वर्णित हैं। जैन दर्शन में षट्द्रव्य का निरूपण है। इनमें पाँच अमूर्त्त हैं और एक–पुद्गल द्रव्य मूर्त्त हैं।

गण को वही अनगार धारण कर सकता है जो छह कसौटियों पर खरा उतरता हो। (१) श्रद्धाशील पुरुष (२) सत्यवादी पुरुष (३) मेधावी पुरुष (४) बहुश्रुतपुरुष (५) शक्तिशाली पुरुष (६) कलहरहित पुरुष।

जाति से आर्य मानव छह प्रकार का होता है। अनेक अनछुए पहलुओं पर भी चिन्तन किया गया है। जाति और कुल से आर्य पर चिन्तन कर आर्य की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की है। इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है वह अस्थायी और क्षणिक है, यथार्थ नहीं। जिन इन्द्रियों से सुखानुभूति होती है, उन इन्द्रियों से परिस्थिति-परिवर्तन होने पर दुःखानुभूति भी होती है। इसलिये इस स्थान में सुख और दुःख के छह-छह प्रकार बताये हैं।

मानव को कैसा भोजन करना चाहिये ? जैन दर्शन ने इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तदृष्टि से दिया है। जो भोजन साधना की दृष्टि से विघ्न उत्पन्न करता हो, वह उपयोगी नहीं है और जो भोजन साधना के लिये सहायक बनता है, वह भोजन उपयोगी है। इसलिये श्रमण छह कारणों से भोजन कर सकता है और छह कारणों से भोजन का त्याग कर सकता है। भूगोल, इतिहास, लोकस्थिति, कालचक्र, शरीर-रचना आदि विविध विषयों का इसमें संकलन हुआ है।

सातवें स्थान में सात की संख्या से सम्बन्धित विषयों का संकलन है। इस में उद्देशक नहीं है। जीव-विज्ञान, लोकस्थिति, संस्थान, नय, आसन, चक्रवर्ती रत्न, काल की पहचान, समुद्घात, प्रवचननिह्नव, नक्षत्र, विनय के प्रकार आदि अनेक विषय हैं। साधना के क्षेत्र में अभय आवश्यक है। जिस के अन्तर्मानस में भय का साम्राज्य हो, वह अहिंसक नहीं बन सकता। भय के मूल कारण सात बताये हैं। मानव को मानव से जो भय होता है, वह इहलोक भय है। आधुनिक युग में यह भय अत्यधिक बढ़ गया है। आज सभी मानवों के हृदय धड़क रहे हैं। इस में सात कुलकरों का भी वर्णन है, जो आदि युग में अनुशासन करते थे। अन्यान्य ग्रन्थों में कुलकरों के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। उनके मूलबीज यहाँ रहे हुए हैं। स्वर, स्वरस्थान और स्वर-मण्डल का विशद वर्णन है। अन्य ग्रन्थों में आये हुए इन विषयों की सहज में तुलना की जा सकती है।

आठवें स्थान में आठ की संख्या से संबन्धित विषयों को संकलित किया गया है। इस स्थान में जीव-विज्ञान, कर्मशास्त्र, लोकस्थिति, ज्योतिष, आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल आदि के सम्बन्ध में विपुल सामग्री का संकलन हुआ है।

साधना के क्षेत्र में संघ का अत्यधिक महत्त्व रहा है। संघ में रहकर साधना सुगम रीति से संभव है। एकाकी साधना भी की जा सकती है। यह मार्ग कठिनता को लिये हुए है। एकाकी साधना करने वाले में विशिष्ट योग्यता अपेक्षित है। प्रस्तुत स्थान में सर्वप्रथम उसी का निरूपण है। एकाकी रहने के लिए वे योग्यताएँ अपेक्षित हैं। काश ! आज एकाकी विचरण करने वाले श्रमण इस पर चिन्तन करें तो कितना अच्छा हो !

साधना के क्षेत्र में सावधानी रखने पर भी कभी-कभी दोष लग जाते हैं। किन्तु माया के कारण उन दोषों की विशुद्धि नहीं हो पाती। मायावी व्यक्ति के मन में पाप के प्रति ग्लानि नहीं होती और न धर्म के प्रति दृढ़ आस्था ही होती है। माया को शास्त्रकार ने "शल्य" कहा है। वह शल्य के समान सदा चुभती रहती है। माया से स्नेह-सम्बन्ध टूट जाते हैं। आलोचना करने के लिये शल्य-रहित होना आवश्यक है। प्रस्तुत स्थान में विस्तार से उस पर चिन्तन किया गया है। गणि-सम्पदा, प्रायश्चित्त के भेद, आयुर्वेद के प्रकार, कृष्णराजिपद, काकिणि रत्नपद, जम्बूद्वीप में पर्वत आदि विषयों पर चिन्तन है। जिनका ऐतिहासिक व भौगोलिक दृष्टि से महत्त्व है।

नवमें स्थान में नौ संख्या से सम्बन्धित विषयों का संकलन है। ऐतिहासिक, ज्योतिष तथा अन्यान्य विषयों का सुन्दर निरूपण हुआ है। भगवान् महावीर युग के अनेक ऐतिहासिक प्रसंग इस में आये हैं। भगवान् महावीर के तीर्थ में नौ व्यक्तियों ने तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्ध किया। उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी, पोट्टिल अनगार, दृढायु, शंख श्रावक, शतक श्रावक, सुलसा श्राविका, रेवती श्राविका। राजा बिम्बिसार श्रेणिक के सम्बन्ध में भी इस में प्रचुर-सामग्री है। तीर्थंकर नामकर्म का बंध करने वालों में पोट्टिल का उल्लेख है। अनुत्तरोपपातिक सूत्र में भी पोट्टिल अनगार का वर्णन प्राप्त है। वहाँ पर महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होने की बात लिखी है तो यहाँ पर भरतक्षेत्र से सिद्ध होने का उल्लेख है। इस से यह सिद्ध है कि पोट्टिल नाम के दो अनगार होने चाहिये। किन्तु ऐसा मानने पर नौ की संख्या का विरोध होगा। अतः यह चिन्तनीय है।

रोगोत्पत्ति के नौ कारणों का उल्लेख हुआ है। इन में आठ कारणों से शरीर के रोग उत्पन्न होते हैं और नौवें कारण से मानसिक रोग समुत्पन्न होता है। आचार्य अभयदेव ने लिखा है कि—अधिक बैठने या कठोर आसन पर बैठने से बवासीर आदि उत्पन्न होते हैं। अधिक खाने या थोड़ा-थोड़ा बार-बार खाते रहने से अजीर्ण आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग का मूल कारण इन्द्रियार्थ-विगोपन अर्थात् काम-विकार है। काम-विकार से उन्माद आदि रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि व्यक्ति को वह रोग मृत्यु के द्वार तक पहुंचा देता है। वृत्तिकार ने काम-विकार के दश-दोषों का भी उल्लेख किया है। इन कारणों की तुलना सुश्रुत और चरक आदि द्वारा वर्णित रोगोत्पत्ति के कारणों से की जा सकती है। इन के अतिरिक्त उस युग की राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी इस में अच्छी जानकारी है। पुरुषादानीय पार्श्व व भगवान् महावीर और श्रेणिक आदि के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण सामग्री भी मिलती है।

दशवें स्थान में दशविध संख्या को आधार बनाकर विविध विषयों का संकलन हुआ है। इस स्थान में भी विषयों की विविधता है। पूर्वस्थानों की अपेक्षा कुछ अधिक विषयों का विस्तार हुआ है। लोक-स्थिति, शब्द के दश प्रकार, क्रोधोत्पत्ति के कारण, समाधि के कारण, प्रव्रज्या ग्रहण करने के कारण, आदि विविध विषयों पर विविध दृष्टियों से चिन्तन है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के अनेक कारण हो सकते हैं। यद्यपि आगमकार ने कोई उदाहरण नहीं दिया है, वृत्तिकार ने उदाहरणों का संकेत किया है। बृहत्कल्प भाष्य,[१००] निशीथ भाष्य,[१०१] आवश्यक मलयगिरि वृत्ति[१०२] में विस्तार से इस विषय को स्पष्ट किया गया है। वैयावृत्य संगठन का अटूट सूत्र है। वह शारीरिक और चैतसिक दोनों प्रकार की होती है। शारीरिक अस्वस्थता को सहज में विनष्ट किया जा सकता है। जब कि मानसिक अस्वस्थता के लिये विशेष धृति और उपाय

की अपेक्षा होती है। तत्त्वार्थ[१०३] और उस के व्याख्या-साहित्य में भी कुछ प्रकारान्तर से नामों का निर्देश हुआ है।

भारतीय संस्कृति में दान की विशिष्ट परम्परा रही है। दान अनेक कारणों से दिया जाता है। किसी में भय की भावना रहती है, तो किसी में कीर्ति की लालसा होती है, किसी में अनुकम्पा का सागर ठाठें मारता है। प्रस्तुत स्थान में दान के दश भेद निरूपित हैं। भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में दश स्वप्न देखे थे। **'छउमत्थकालियाए अन्तिमराइयंसि'** इस पाठ से यह विचार बनते हैं। छद्मस्थ काल की अन्तिम रात्रि में भगवान् ने दश स्वप्न देखे। आवश्यकनिर्युक्ति[१०४] और आवश्यकचूर्णि[१०५] आदि में भी इन स्वप्नों का उल्लेख हुआ है। ये स्वप्न व्याख्या-साहित्य की दृष्टि से प्रथम वर्षावास में देखे गये थे। बौद्ध साहित्य में भी तथागत बुद्ध के द्वारा देखे गये पाँच स्वप्नों का वर्णन मिलता है।[१०६] जिस समय वे बोधिसत्त्व थे। बुद्धत्व की उपलब्धि नहीं हुई थी। उन्होंने पाँच स्वप्न देखे थे। वे इस प्रकार हैं–

(१) यह महान् पृथ्वी उन की विराट् शय्या बनी हुई थी। हिमाच्छादित हिमालय उन का तकिया था। पूर्वी समुद्र बायें हाथ से और पश्चिमी समुद्र दायें हाथ से, दक्षिणी समुद्र दोनों पाँवों से ढंका था।

(२) उनकी नाभि से तिरिया नामक तृण उत्पन्न हुए और उन्होंने आकाश को स्पर्श किया।

(३) कितने ही काले सिर श्वेत रंग के जीव पाँव से ऊपर की ओर बढ़ते-बढ़ते घुटनों तक ढंक कर खड़े हो गये।

(४) चार वर्ण वाले चार पक्षी चारों विभिन्न दिशाओं से आये और उनके चरणारविन्दों में गिर कर सभी श्वेत वर्ण वाले हो गये।

(५) तथागत बुद्ध गूथ पर्वत पर ऊपर चढ़ते हैं और चलते समय वे पूर्ण रूप से निर्लिप्त रहते हैं।

इन पाँचों स्वप्नों की फलश्रुति इस प्रकार थी। (१) अनुपम सम्यक् संबोधि को प्राप्त करना। (२) आर्य आष्टांगिक मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर वह ज्ञान देवों और मानवों तक प्रकाशित करना। (३) अनेक श्वेत वस्त्रधारी प्राणांत होने तक तथागत के शरणागत होना। (४) चारों वर्ण वाले मानवों द्वारा तथागत द्वारा दिये गये धर्म-विनय के अनुसार प्रव्रजित होकर मुक्ति का साक्षात्कार करना। (५) तथागत, चीवर, भिक्षा, आसन, औषध आदि प्राप्त करते हैं तथापि वे उनमें अमूर्च्छित रहते हैं और मुक्तप्रज्ञ होकर उसका उपभोग करते हैं।

गहराई से चिन्तन करने पर भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध दोनों के स्वप्न देखने में शब्द-साम्य तो नहीं है, किन्तु दोनों के स्वप्न की पृष्ठभूमि एक है। भविष्य में उन्हें विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि होगी और वे धर्म का प्रवर्तन करेंगे।

प्रस्तुत स्थान से आगम-ग्रन्थों की विशिष्ट जानकारी भी प्राप्त होती है। भगवान् महावीर और अन्य तीर्थंकरों के समय ऐसी विशिष्ट घटनाएँ घटीं, जो आश्चर्य के नाम से विश्रुत हैं। विश्व में अनेक आश्चर्य हैं किन्तु प्रस्तुत आगम में आये हुए आश्चर्य उन आश्चर्यों से पृथक् हैं। इस प्रकार दशवें स्थान में ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन है जो ज्ञान-विज्ञान, इतिहास आदि से सम्बन्धित हैं। जिज्ञासुओं को मूल आगम का स्वाध्याय करना चाहिये, जिससे उन्हें आगम के अनमोल रत्न प्राप्त हो सकेंगे।

●●

卐

स्थानांग में दार्शनिक विश्लेषण

हम पूर्व ही यह बता चुके हैं कि विविध विषयों का वर्णन स्थानांग में है। क्या धर्म और क्या दर्शन, ऐसा कौन-सा विषय है जिसका सूचन इस आगम में न हो। आगम में वे विचार भले ही बीज रूप में हों। उन्होंने बाद में चलकर व्याख्यासाहित्य में विराट् रूप धारण किया। हम यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में स्थानांग में आये हुए दार्शनिक विषयों पर चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये भाषा का प्रयोग करता है। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का नियत अर्थ क्या है ? इसे ठीक रूप से समझना "निक्षेप" है। दूसरे शब्दों में, शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में आरोप करना "निक्षेप" कहलाता है।[१०७] निक्षेप का पर्यायवाची शब्द "न्यास" भी है।[१०८] स्थानांग में निक्षेपों को "सर्व" पर घटित किया है।[१०९] सर्व के चार प्रकार हैं–नामसर्व, स्थापनासर्व, आदेशसर्व और निरवशेषसर्व। यहाँ पर द्रव्य आदेशसर्व कहा है। सर्व शब्द का तात्पर्य अर्थ 'निरवशेष' है। बिना शब्द के हमारा व्यवहार नहीं चलता। किन्तु वक्ता के विवक्षित अर्थ को न समझने से कभी बड़ा अनर्थ भी हो जाता है। इसी अनर्थ के निवारण हेतु निक्षेप-विधा का प्रयोग हुआ है। निक्षेप का अर्थ निरूपण-पद्धति है जो वास्तविक अर्थ को समझने में परम उपयोगी है।

आगम साहित्य में ज्ञानवाद की चर्चा विस्तार के साथ आई है। स्थानांग में भी ज्ञान के पाँच भेद प्रतिपादित हैं।[११०] उन पाँच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष[१११] इन दो भागों में विभक्त किया है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना और केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये तीन प्रत्यक्ष हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान "परोक्ष" है। उसके दो प्रकार हैं–मति और श्रुत। स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। बाहरी पदार्थों की अपेक्षा से प्रमाण के स्पष्ट और अस्पष्ट लक्षण किये गये हैं। बाह्य पदार्थों का निश्चय करने के लिये दूसरे ज्ञान की जिसे अपेक्षा नहीं होती है उसे स्पष्ट ज्ञान कहते हैं। जिसे अपेक्षा रहती है, वह अस्पष्ट है। परोक्ष प्रमाण में दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। उदाहरण के रूप में; स्मृतिज्ञान में धारणा की अपेक्षा रहती है, प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मृति की, तर्क में व्याप्ति की, अनुमान में हेतु की, तथा आगम में शब्द और संकेत की अपेक्षा रहती है। इसलिये वे अस्पष्ट हैं। अपर शब्दों में यों कह सकते हैं कि जिस का ज्ञेय पदार्थ निर्णय–काल में छिपा रहता

है वह ज्ञान अस्पष्ट या परोक्ष है। स्मृति का विषय स्मृतिकर्ता के सामने नहीं होता। प्रत्यभिज्ञान में भी वह अस्पष्ट होता है। तर्क में भी त्रिकालीन सर्वधूम और अग्नि प्रत्यक्ष नहीं होते। अनुमान का विषय भी सामने नहीं होता और आगम का विषय भी। अवग्रह आदि आत्म-सापेक्ष न होने से परोक्ष हैं। लोक व्यवहार से अवग्रह आदि को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष विभाग में रखा है।[११२]

स्थानांग में ज्ञान का वर्गीकरण इस प्रकार है–[११३]

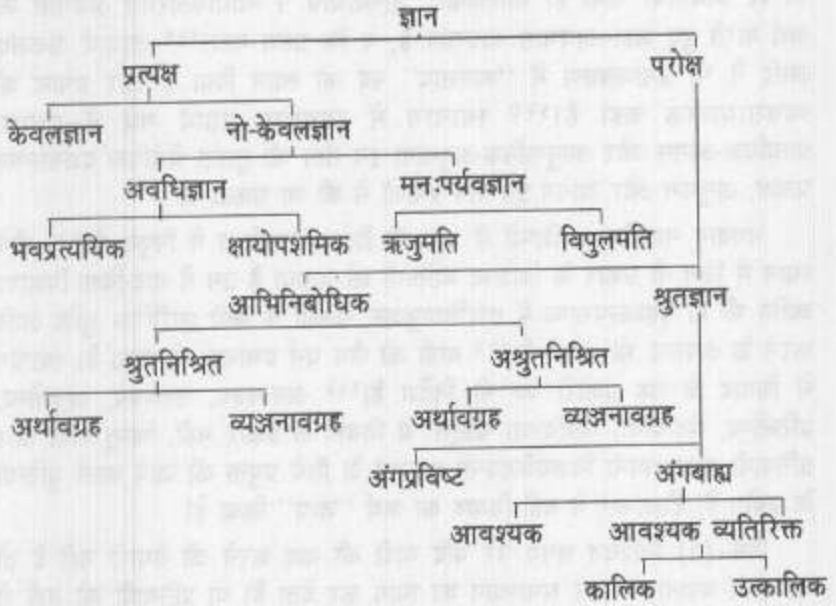

स्थानांग में प्रमाण शब्द के स्थान पर "हेतु" शब्द का प्रयोग मिलता है।[११४] ज्ञप्ति के साधनभूत होने से प्रत्यक्ष आदि को हेतु शब्द से व्यवहृत करने में औचित्यभंग भी नहीं है। चरक में भी प्रमाणों का निर्देश "हेतु" शब्द से हुआ है।[११५] स्थानांग में ऐतिह्य के स्थान पर आगम शब्द व्यवहृत हुआ है। किन्तु चरक में ऐतिह्य को ही आगम कहा है।[११६]

स्थानांग में निक्षेप पद्धति से प्रमाण के चार भेद[११७] भी प्रतिपादित हैं– द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण। यहाँ पर प्रमाण का व्यापक अर्थ लेकर उसके भेदों की परिकल्पना की है। अन्य दार्शनिकों की भाँति केवल प्रमेयसाधक तीन, चार, छह आदि प्रमाणों का ही समावेश नहीं है। किन्तु व्याकरण और कोष आदि से सिद्ध प्रमाण शब्द के सभी अर्थों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि मूल-सूत्र में भेदों की गणना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा गया है किन्तु बाद

के आचार्यों ने इन पर विस्तार से विश्लेषण किया है। स्थानाभाव में हम इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं कर रहे हैं।

स्थानांग में तीन प्रकार के व्यवसाय[११८] बताये हैं। प्रत्यक्ष "अवधि" आदि, प्रात्ययिक–"इन्द्रिय और मन के निमित्त से" होने वाला, आनुगामिक–"अनुसरण करने वाला"। व्यवसाय का अर्थ है–निश्चय या निर्णय। यह वर्गीकरण ज्ञान के आधार पर किया गया है। आचार्य सिद्धसेन से लेकर सभी तार्किकों ने प्रमाण को स्व-पर व्यवसायी माना है। वार्तिककार शान्त्याचार्य ने न्यायावतारगत अवभास का अर्थ करते हुए कहा–अवभास व्यवसाय है, न कि ग्रहण मात्र।[११९] आचार्य अकलंक आदि ने भी प्रमाणलक्षण में "व्यवसाय" पद को स्थान दिया है और प्रमाण को व्यवसायात्मक कहा है।[१२०] स्थानांग में व्यवसाय बताये गये हैं–प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक-आगम और आनुगामिक-अनुमान। इन तीन की तुलना वैशेषिक दर्शनसम्मत प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों से की जा सकती है।

भगवान् महावीर के शिष्यों में चार सौ शिष्य वाद-विद्या में निपुण थे।[१२१] नौवें स्थान में जिन नौ प्रकार के विशिष्ट व्यक्तियों को बताया है उन में वाद-विद्या-विशारद व्यक्ति भी हैं। बृहत्कल्पभाष्य में वादविद्याकुशल श्रमणों के लिये शारीरिक शुद्धि आदि करने के अपवाद भी बताये हैं।[१२२] वादी को जैन धर्म प्रभावक भी माना है। स्थानांग में विवाद के छह प्रकारों का भी निर्देश है।[१२३] अवष्वक्य, उत्ष्वक्य, अनुलोम्य, प्रतिलोम्य, भेदयित्वा, मेलयित्वा। वस्तुतः ये विवाद के प्रकार नहीं, किन्तु वादी और प्रतिवादी द्वारा अपनी विजयवैजयन्ती फहराने के लिये प्रयुक्त की जाने वाली युक्तियों के प्रयोग हैं। टीकाकार ने यहाँ विवाद का अर्थ "जल्प" किया है।

जैसे–(१) निश्चित समय पर यदि वादी की वाद करने की तैयारी नहीं है तो वह स्वयं बहाना बनाकर सभास्थान का त्याग कर देता है। या प्रतिवादी को वहाँ से हटा देता है। जिससे वाद में विलम्ब होने के कारण वह उस समय में अपनी तैयारी कर लेता है।

(२) जब वादी को यह अनुभव होने लगता है कि मेरी विजय का अवसर आ चुका है, तब वह सोल्लास बोलने लगता है और प्रतिवादी को प्रेरणा देकर वाद का शीघ्र प्रारम्भ कराता है।[१२४]

(३) वादी सामनीति से विवादाध्यक्ष को अपने अनुकूल बनाकर वाद का प्रारम्भ करता है। या प्रतिवादी को अनुकूल बनाकर वाद प्रारम्भ कर देता है। उसके पश्चात् उसे वह पराजित कर देता है।[१२५]

(४) यदि वादी को यह आत्म-विश्वास हो कि प्रतिवादी को हराने में वह पूर्ण समर्थ है तो वह सभापति और प्रतिवादी को अनुकूल न बनाकर प्रतिकूल ही बनाता है और प्रतिवादी को पराजित करता है।

(५) अध्यक्ष की सेवा करके वाद करना।

(६) जो अपने पक्ष में व्यक्ति हैं उन्हें अध्यक्ष से मेल कराता है और प्रतिवादी के प्रति अध्यक्ष के मन में द्वेष पैदा करता है।

स्थानांग में वादकथा के दश दोष गिनाये हैं।[१२६] वे इस प्रकार हैं–

(१) **तज्जातदोष**–प्रतिवादी के कुल का निर्देश करके उसके पश्चात् दूषण देना अथवा प्रतिवादी की प्रकृष्ट प्रतिभा से विक्षुब्ध होने के कारण वादी का चुप हो जाना।

(२) **मतिभंग**–वाद-प्रसंग में प्रतिवादी या वादी का स्मृतिभ्रंश होना।

(३) **प्रशास्तृदोष**–वाद-प्रसंग में सभ्य या सभापति पक्षपाती होकर जय-दान करें या किसी को सहायता दें।

(४) **परिहरण**–सभा के नियम-विरुद्ध चलना या दूषण का परिहार जात्युत्तर से करना।

(५) **स्वलक्षण**–अतिव्याप्ति आदि दोष।

(६) **कारण**–युक्तिदोष।

(७) **हेतुदोष**–असिद्धादि हेत्वाभास।

(८) **संक्रमण**–प्रतिज्ञान्तर करना। या प्रतिवादी के पक्ष को मानना। टीकाकार ने टीका में लिखा है–प्रस्तुत प्रमेय की चर्चा का त्याग कर अप्रस्तुत प्रमेय की चर्चा करना।

(९) **निग्रह**–छलादि के द्वारा प्रतिवादी को निगृहीत करना।

(१०) **वस्तुदोष**–पक्ष-दोष अर्थात् प्रत्यक्षनिराकृत आदि।

न्यायशास्त्र में इन सभी दोषों के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन है। अतः इस सम्बन्ध में यहां विशेष विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है।

स्थानांग में विशेष प्रकार के दोष भी बताये हैं और टीकाकार ने उस पर विशेष वर्णन भी किया है। छह प्रकार के वाद के लिये प्रश्नों का वर्णन है। नयवाद[१२७] का और निह्नववाद[१२८] का वर्णन है। जो उस युग के अपनी दृष्टि से चिन्तक रहे हैं। बहुत कुछ वर्णन जहाँ-तहाँ बिखरा पड़ा है। यदि विस्तार के साथ तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जाये तो दर्शन सम्बन्धी अनेक अज्ञात रहस्य उद्घाटित हो सकते हैं।

आचार-विश्लेषण

दर्शन की तरह आचार सम्बन्धी वर्णन भी स्थानांग में बहुत ही विस्तार के साथ किया गया है। आचार-संहिता के सभी मूलभूत तत्त्वों का निरूपण इसमें किया गया है।

धर्म के दो भेद हैं–सागार-धर्म और अनगार-धर्म। सागार-धर्म सीमित मार्ग है। वह जीवन की सरल और लघु पगडण्डी है। गृहस्थ धर्म अणु अवश्य है किन्तु हीन और निन्दनीय नहीं है। इसलिये सागार धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति श्रमणोपासक या उपासक कहलाता है।[१२९] स्थानांग में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा है।[१३०] उपासक जीवन में सर्वप्रथम सत्य के प्रति आस्था होती है। सम्यग्दर्शन के आलोक में ही वह जड़ और चेतन, संसार और मोक्ष, धर्म और अधर्म का परिज्ञान करता है। उस की यात्रा का लक्ष्य स्थिर हो जाता है। उसका सोचना, समझना और बोलना, सभी कुछ विलक्षण होता है। उपासक के लिये **"अभिगयजीवाजीवे"** यह विशेषण आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है। स्थानांग के द्वितीय स्थान में इस सम्बन्ध में अच्छा चिन्तन प्रस्तुत किया है।[१३१] मोक्ष की उपलब्धि के साधनों के विषय में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। जैन दर्शन न एकान्त ज्ञानवादी है, न क्रियावादी है, न भक्तिवादी है। उसके अनुसार ज्ञान-क्रिया और भक्ति का समन्वय ही मोक्षमार्ग है। स्थानांग में[१३२] **"विज्जाए चेव चरणेण चेव"** के द्वारा इस सत्य को उद्घाटित किया है।

स्थानांग[१३३] में उपासक के लिये पाँच अणुव्रतों का भी उल्लेख है। उपासक को अपना जीवन, व्रत से युक्त बनाना चाहिये। श्रमणोपासक की श्रद्धा और वृत्ति की भिन्नता के आधार पर इसको चार भागों में विभक्त किया है। जिन के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति प्रगाढ़ वात्सल्य होता है, उनकी तुलना माता-पिता से की है।[१३४] वे तत्त्वचर्चा और जीवननिर्वाह इन दोनों प्रसंगों में वात्सल्य का परिचय देते हैं। कितने ही श्रमणोपासकों के अन्तर्मन में वात्सल्य भी होता है और कुछ उग्रता भी रही हुई होती है। उनकी तुलना भाई से की गयी है। वैसे श्रावक तत्त्वचर्चा के प्रसंगों में निष्ठुरता का परिचय देते हैं। किन्तु जीवन-निर्वाह के प्रसंग में उनके हृदय में वत्सलता छलकती है। कितने ही श्रमणोपासकों में सापेक्ष वृत्ति होती है। यदि किसी कारणवश प्रीति नष्ट हो गयी तो वे उपेक्षा भी करते हैं। वे अनुकूलता के समय वात्सल्य का परिचय देते हैं और प्रतिकूलता के समय उपेक्षा भी कर देते हैं। कितने ही श्रमणोपासक ईर्ष्या के वशीभूत होकर श्रमणों के दोष ही निहारा करते हैं। वे किसी भी रूप में श्रमणों का उपकार नहीं करते हैं। उनके व्यवहार की तुलना सौत से की गई है।

प्रस्तुत आगम में[१३५] श्रमणोपासक की आन्तरिक योग्यता के आधार पर चार वर्ग किये हैं।

(१) कितने की श्रमणोपासक दर्पण के समान निर्मल होते हैं। वे तत्त्वनिरूपण के यथार्थ प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं।

(२) कितने ही श्रमणोपासक ध्वजा की तरह अनवस्थित होते हैं। ध्वजा जिधर भी हवा होती है, उधर ही मुड़ जाती है। उसी प्रकार उन श्रमणोपासकों का तत्त्वबोध अनवस्थित होता है। निश्चित बिन्दु पर उन के विचार स्थिर नहीं होते।

(३) कितने ही श्रमणोपासक स्थाणु की तरह प्राणहीन और शुष्क होते हैं। उनमें लचीलापन नहीं होता। वे आग्रही होते हैं।

(४) कितने ही श्रमणोपासक काँटे के सदृश होते हैं। काँटे की पकड़ बड़ी मजबूत होती है। वह हाथ को बींध देता है। वस्त्र भी फाड़ देता है। वैसे ही कितने ही श्रमणोपासक कदाग्रह से ग्रस्त होते हैं। श्रमण कदाग्रह छुड़वाने के लिये उसे तत्त्वबोध प्रदान करते हैं। किन्तु वे तत्त्वबोध को स्वीकार नहीं करते अपितु तत्त्वबोध प्रदान करने वाले को दुर्वचनों के तीक्ष्ण काँटों से बींध देते हैं।

इस तरह श्रमणोपासक के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री है।

श्रमणोपासक की तरह ही श्रमणजीवन के सम्बन्ध में भी स्थानांग में महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन हुआ है। श्रमण का जीवन अत्यन्त उग्र साधना का है। जो धीर, वीर और साहसी होते हैं, वे इस महामार्ग को अपनाते हैं। श्रमणजीवन, हर साधक, जो मोक्षाभिलाषी है, स्वीकार कर सकता है। स्थानांग में प्रव्रज्या ग्रहण करने के दश कारण बताये हैं।[१३६] यों अनेक कारण हो सकते हैं किन्तु प्रमुख कारणों का निर्देश किया गया है। वृत्तिकार[१३७] ने दश प्रकार की प्रव्रज्या के उदाहरण भी दिये हैं। (१) छन्दा–अपनी इच्छा से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करना (२) रोषा–क्रोध के कारण प्रव्रज्या ग्रहण करना (३) दारिद्र्यद्यूना–गरीबी के कारण प्रव्रज्या ग्रहण करना। (४) स्वप्ना–स्वप्न से वैराग्य उत्पन्न होकर दीक्षा लेना। (५) प्रतिश्रुता–पहले की गई प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करना (६) स्मारणिका–पूर्वभव की स्मृति के कारण प्रव्रज्या ग्रहण करना (७) रोगिनिका–रुग्णता के कारण प्रव्रज्या ग्रहण करना (८) अनादृता–अपमान के कारण प्रव्रज्या ग्रहण करना (९) देवसंज्ञप्तता–देवताओं के द्वारा संबोधित किये जाने पर प्रव्रज्या ग्रहण करना (१०) वत्सानुबंधिका–दीक्षित पुत्र के स्नेह के कारण प्रव्रज्या ग्रहण करना।

श्रमण प्रव्रज्या के साथ ही स्थानांग में श्रमणधर्म की सम्पूर्ण आचारसंहिता दी गई है। उसमें पाँच महाव्रत, अष्ट प्रवचनमाता, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, परीषहविजय, प्रत्याख्यान, पाँच-परिज्ञा, बाह्य और आभ्यन्तर तप, प्रायश्चित्त, आलोचना करने का अधिकारी, आलोचना के दोष, प्रतिक्रमण के प्रकार, विनय के प्रकार, वैयावृत्य के प्रकार, स्वाध्याय-ध्यान, अनुप्रेक्षाएँ, मरण के प्रकार, आचार के प्रकार, संयम के प्रकार, आहार के कारण, गोचरी के प्रकार, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, भिक्षु-प्रतिमाएँ, प्रतिलेखना के प्रकार, व्यवहार के प्रकार, संघ-व्यवस्था, आचार्य-उपाध्याय के अतिशय, गण छोड़ने के कारण, शिष्य और स्थविर, कल्प, समाचारी,

सम्भोग-विसम्भोग, निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के विशिष्ट नियम आदि श्रमणाचार-सम्बन्धी नियमोपनियमों का वर्णन है। जो नियम अन्य आगमों में बहुत विस्तार के साथ आये हैं। उनका संक्षेप में यहाँ सूचन किया है। जिससे श्रमण उन्हें स्मरण रखकर सम्यक् प्रकार से उनका पालन कर सके।

तुलनात्मक अध्ययन : आगम के आलोक में

स्थानांग सूत्र में शताधिक विषयों का संकलन हुआ है। इसमें जो सत्य-तथ्य प्रकट हुए हैं उनकी प्रतिध्वनि अन्य आगमों में निहारी जा सकती है। कहीं-कहीं पर विषय-साम्य है तो कहीं-कहीं पर शब्द-साम्य है। स्थानांग के विषयों की अन्य आगमों के साथ तुलना करने से प्रस्तुत आगम का सहज ही महत्त्व परिज्ञात होता है। हम यहाँ बहुत ही संक्षेप में स्थानांगगत विषयों की तुलना अन्य आगमों के आलोक में कर रहे हैं।

स्थानांग[१३८] में द्वितीय सूत्र है **"एगे आया"**। यही सूत्र समवायांग[१३९] में भी शब्दशः मिलता है। भगवती[१४०] में इसी का द्रव्य दृष्टि से निरूपण है।

स्थानांग का चतुर्थ सूत्र **"एगा किरिया"** है।[१४१] समवायांग[१४२] में भी इसका शब्दशः उल्लेख है। भगवती[१४३] और प्रज्ञापना[१४४] में भी क्रिया के सम्बन्ध में वर्णन है।

स्थानांग[१४५] में पाँचवाँ सूत्र है–**"एगे लोए"** ! समवायांग[१४६] में भी इसी तरह का पाठ है। भगवती[१४७] और औपपातिक[१४८] में भी यही स्वर मुखरित हुआ है।

स्थानांग[१४९] में सातवाँ सूत्र है–**एगे धम्मे**। समवायांग[१५०] में भी यह पाठ इसी रूप में मिलता है। सूत्रकृतांग[१५१] और भगवती[१५२] में भी इसका वर्णन है।

स्थानांग[१५३] का आठवाँ सूत्र है–**"एगे अधम्मे"**। समवायांग[१५४] में यह सूत्र इसी रूप में मिलता है। सूत्रकृतांग[१५५] और भगवती[१५६] में भी इस विषय को देखा जा सकता है।

स्थानांग[१५७] का ग्यारहवाँ सूत्र है–**'एगे पुण्णे'**। समवायांग[१५८] में भी इसी तरह का पाठ है, सूत्रकृतांग[१५९] और औपपातिक[१६०] में भी यह विषय इसी रूप में मिलता है।

स्थानांग[१६१] का बारहवाँ सूत्र है–**'एगे पावे'** ! समवायांग[१६२] में यह सूत्र इसी रूप में आया है। सूत्रकृतांग[१६३] और औपपातिक[१६४] में भी इस का निरूपण हुआ है।

स्थानांग[१६५] का नवम सूत्र **'एगे बन्धे'** है और दशवाँ सूत्र **'एगे मोक्खे'** है। समवायांग[१६६] में ये दोनों सूत्र इसी रूप में मिलते हैं। सूत्रकृतांग[१६७] और औपपातिक[१६८] में भी इसका वर्णन हुआ है।

स्थानांग[१६९] का तेरहवाँ सूत्र **'एगे आसवे'** चौदहवाँ सूत्र **"एगे संवरे"** पन्द्रहवाँ सूत्र **'एगा वेयणा'** और सोलहवाँ सूत्र **"एगा निर्जरा"** है। यही पाठ समवायांग[१७०] में

मिलता है और सूत्रकृतांग[१७१] और औपपातिक[१७२] में भी इन विषयों का इस रूप में निरूपण हुआ है।

स्थानांग[१७३] सूत्र के पचपनवें सूत्र में आर्द्रा नक्षत्र, चित्रा नक्षत्र, स्वाति नक्षत्र का वर्णन है। वही वर्णन समवायांग[१७४] और सूर्यप्रज्ञप्ति[१७५] में भी है।

स्थानांग[१७६] के सूत्र तीन सौ अट्ठावीस में अप्रतिष्ठान नरक, जम्बूद्वीप, पालकयानविमान आदि का वर्णन है। उसकी तुलना समवायांग[१७७] के उन्नीस, बीस, इकबीस और बावीसवें सूत्र से की जा सकती है, और साथ ही जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[१७८] और प्रज्ञापना[१७९] पद से भी।

स्थानांग[१८०] के ९५वें सूत्र में जीव-अजीव आवलिका का वर्णन है। वही वर्णन समवायांग[१८१] प्रज्ञापना[१८२] जीवाभिगम[१८३] उत्तराध्ययन[१८४] में है।

स्थानांग[१८५] के सूत्र ९६ में बन्ध आदि का वर्णन है। वैसा ही वर्णन प्रश्नव्याकरण[१८६] प्रज्ञापना[१८७] और उत्तराध्ययन[१८८] सूत्र में भी है।

स्थानांगसूत्र[१८९] के ११०वें सूत्र में पूर्वाभाद्रपद आदि के तारों का वर्णन है तो सूर्यप्रज्ञप्ति[१९०] और समवायांग[१९१] में भी वह वर्णन मिलता है।

स्थानांगसूत्र[१९२] के १२६वें सूत्र में तीन गुप्तियाँ एवं तीन दण्डकों का वर्णन है। समवायांग,[१९३] प्रश्न-व्याकरण,[१९४] उत्तराध्ययन[१९५] और आवश्यक[१९६] में भी यह वर्णन है।

स्थानांगसूत्र[१९७] के १८२वें सूत्र में उपवास करने वाले श्रमण को कितने प्रकार के धोवन पानी लेना कल्पता है, यह वर्णन समवायांग[१९८], प्रश्नव्याकरण[१९९], उत्तराध्ययन[२००] और आवश्यक सूत्र[२०१] में प्रकारान्तर से आया है।

स्थानांगसूत्र[२०२] के २१४वें पद में विविध दृष्टियों से ऋद्धि के तीन प्रकार बताये हैं। उसी प्रकार का वर्णन समवायांग[२०३], प्रश्नव्याकरण[२०४] में भी आया है।

स्थानांगसूत्र[२०५] के २२७वें सूत्र में अभिजित, श्रवण, अश्विनी, भरणी, मृगशिर, पुष्य, ज्येष्ठा के तीन-तीन तारे कहे हैं। वही वर्णन समवायांग[२०६] और सूर्यप्रज्ञप्ति[२०७] में भी प्राप्त है।

स्थानांगसूत्र[२०८] के सूत्र २४७ में चार ध्यान और प्रत्येक ध्यान के लक्षण, आलम्बन बताये गये हैं, वैसा ही वर्णन समवायांग[२०९], भगवती[२१०], और औपपातिक[२११] में भी है।

स्थानांगसूत्र[२१२] के सूत्र २४९ में चार कषाय, उनकी उत्पत्ति के कारण, आदि निरूपित हैं। वैसे ही समवायांग[२१३] और प्रज्ञापना[२१४] में भी वह वर्णन है।

स्थानांगसूत्र[२१५] के सूत्र २८२ में चार विकथाएँ और विकथाओं के प्रकार का विस्तार से निरूपण है। वैसा वर्णन समवायांग[२१६] और प्रश्नव्याकरण[२१७] में भी मिलता है।

स्थानांगसूत्र[२१८] के ३५६वें सूत्र में चार संज्ञाओं और उनके विविध प्रकारों का वर्णन है। वैसा ही वर्णन समवायांग[२१९], प्रश्नव्याकरण और प्रज्ञापना[२२०] में भी प्राप्त है।

स्थानांगसूत्र[२२१] के ३८६वें सूत्र में अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा के चार-चार ताराओं का वर्णन है। वही वर्णन समावायांग[२२२] सूर्यप्रज्ञप्ति[२२३] आदि में भी है।

स्थानांगसूत्र[२२४] के ६३४वें सूत्र में मगध का योजन आठ हजार धनुष का बताया है। वही वर्णन समवायांग[२२५] में भी है।

●●

卐

तुलनात्मक अध्ययन : बौद्ध और वैदिक ग्रन्थ

स्थानांग के अन्य अनेक सूत्रों में आये हुए विषयों की तुलना अन्य आगमों के साथ भी की जा सकती है। किन्तु विस्तारभय से हम ने संक्षेप में ही सूचन किया है। अब हम स्थानांग के विषयों की तुलना बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों के साथ कर रहे हैं। जिससे यह परिज्ञात हो सके कि भारतीय संस्कृति कितनी मिली-जुली रही है। एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर कितना प्रभाव रहा है।

स्थानांग[२२६] में बताया है कि छह कारणों से आत्मा उन्मत्त होता है। अरिहंत का अवर्णवाद करने से, धर्म का अवर्णवाद करने से, चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से, यक्ष के आवेश से, मोहनीय कर्म के उदय से; तो तथागत बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय[२२७] में कहा है–चार अचिन्तनीय की चिन्ता करने से मानव उन्मादी हो जाता है–(१) तथागत बुद्ध भगवान् के ज्ञान का विषय, (२) ध्यानी के ध्यान का विषय, (३) कर्मविपाक, (४) लोकचिन्ता।

स्थानांग[२२८] में जिन कारणों से आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है, उन्हें आस्रव कहा है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये आस्रव हैं। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय[२२९] में आस्रव का मूल "अविद्या" बताया है। अविद्या के निरोध से आस्रव का अपने आप निरोध होता है। आस्रव के कामास्रव, भवास्रव, अविद्यास्रव, ये तीन भेद किये हैं। मज्झिमनिकाय[२३०] के अनुसार मन, वचन और काय की क्रिया को ठीक-ठीक करने से आस्रव रुकता है। आचार्य उमास्वाति[२३१] ने भी काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहा है, वही आस्रव है।

स्थानांग सूत्र में विकथा के स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, मृदुकारुणिककथा, दर्शनभेदिनीकथा और चरित्रभेदिनीकथा, ये सात प्रकार बताये हैं।[२३२] बुद्ध ने विकथा के स्थान पर 'तिरच्छान' शब्द का प्रयोग किया है। उसके राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा, अन्नकथा, पानकथा, वस्त्रकथा, शयनकथा, मालाकथा, गन्धकथा, ज्ञातिकथा, यानकथा, ग्रामकथा, निगमकथा, नगरकथा, जनपदकथा, स्त्रीकथा, आदि अनेक भेद किये हैं।[२३३]

स्थानांग[२३४] में राग और द्वेष से पाप कर्म का बन्ध बताया है। अंगुत्तर निकाय[२३५] में तीन प्रकार से कर्मसमुदय माना है–लोभज, दोषज और मोहज। इनमें भी सब से अधिक मोहज को दोषजनक माना है।[२३६]

स्थानांग[२३७] में जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद ये आठ मदस्थान बताये हैं तो अंगुत्तरनिकाय[२३८] में मद के तीन प्रकार बताये हैं–यौवन, आरोग्य और जीवितमद। इन मदों से मानव दुराचारी बनता है।

स्थानांग[२३९] में आस्रव के निरोध को संवर कहा है और उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा भी की गयी है। तथागत बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में कहा है[२४०] कि आस्रव का निरोध केवल संवर से ही नहीं होता प्रत्युत[२४१] (१) संवर से (२) प्रतिसेवना से (३) अधिवासना से (४) परिवर्जन से (५) विनोद से (६) भावना से होता है, इन सभी में भी अविद्यानिरोध को ही मुख्य आस्रवनिरोध माना है।

स्थानांग[२४२] में अरिहन्त, सिद्ध, साधु, धर्म, इन चार शरणों का उल्लेख है, तो बुद्ध ने 'बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि' इन तीन को महत्व दिया है।

स्थानांग[२४३] में श्रमणोपासकों के लिये पाँच अणुव्रतों का उल्लेख है तो अंगुत्तरनिकाय[२४४] में बौद्ध उपासकों के लिये पाँच शील का उल्लेख है। प्राणातिपातविरमण, अदत्तादानविरमण, कामभोगमिथ्याचार से विरमण, मृषावाद से विरमण, सुरा-मेरिय मद्य-प्रमाद स्थान से विरमण।

स्थानांग[२४५] में प्रश्न के छह प्रकार बताये हैं–संशयप्रश्न, मिथ्याभिनिवेश-प्रश्न, अनुयोगी प्रश्न, अनुलोम-प्रश्न, जानकर किया गया प्रश्न, न जानने से किया गया प्रश्न। अंगुत्तरनिकाय[२४६] में बुद्ध ने कहा–'कितने ही प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनके एक अंश का उत्तर देना चाहिए। कितने ही प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका प्रश्नकर्ता से प्रतिप्रश्न कर उत्तर देना चाहिये। कितने ही प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनका उत्तर नहीं देना चाहिये।'

स्थानाङ्ग में छह लेश्याओं का वर्णन है।[२४७] वैसे ही अंगुत्तरनिकाय[२४८] में पूरणकश्यप द्वारा छह अभिजातियों का उल्लेख है, जो रंगों के आधार पर निश्चित की गई हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) **कृष्णाभिजाति**–बकरी, सूअर, पक्षी और पशु-पक्षी पर अपनी आजीविका चलानेवाला मानव कृष्णाभिजाति है।

(२) **नीलाभिजाति**–कंटकवृत्ति भिक्षुक नीलाभिजाति है–बौद्धभिक्षु और अन्य कर्म करने वाले भिक्षुओं का समूह।

(३) **लोहिताभिजाति**–एकशाटक निर्ग्रन्थों का समूह।

(४) हरिद्राभिजाति–श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र।

(५) शुक्लाभिजाति–आजीवक श्रमण-श्रमणियों का समूह।

(६) परमशुक्लाभिजाति–आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृश, सांकृत्य, मस्करी, गोशालक, आदि का समूह।

आनन्द ने गौतम बुद्ध से इन छह अभिजातियों के सम्बन्ध में पूछा–तो उन्होंने कहा कि मैं भी छह अभिजातियों की प्रज्ञापना करता हूँ।

(१) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में उत्पन्न) होकर कृष्णकर्म तथा पापकर्म करता है।

(२) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक होकर धर्म करता है।

(३) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो, अकृष्ण, अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।

(४) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक (ऊँचे कुल में समुत्पन्न होकर) शुक्ल कर्म करता है।

(५) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो कृष्ण कर्म करता है।

(६) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।[२४९]

महाभारत[२५०] में प्राणियों के छह प्रकार के वर्ण बताये गये हैं। सनत्कुमार ने दानवेन्द्र वृत्रासुर से कहा–प्राणियों के वर्ण छह होते हैं–कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। इनमें से कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सह्य होता है, हारिद्र वर्ण सुखकर और शुक्ल वर्ण अधिक सुखकर होता है।

गीता[२५१] में गति के कृष्ण और शुक्ल ये दो विभाग किये हैं। कृष्ण गतिवाला पुन-पुनः जन्म लेता है और शुक्ल गतिवाला जन्म-मरण से मुक्त होता है।

धम्मपद[२५२] में धर्म के दो विभाग किये हैं। वहाँ वर्णन है कि पण्डित मानव को कृष्ण धर्म को छोड़कर शुक्ल धर्म का आचरण करना चाहिए।

पतंजलि[२५३] ने पातंजलयोगसूत्र में कर्म की चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं। कृष्ण, शुक्ल कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल अकृष्ण, ये क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर हैं। इस तरह स्थानांग सूत्र में आये हुए लेश्यापद से आंशिक दृष्टि से तुलना हो सकती है।

स्थानांग[२५४] में सुगत के तीन प्रकार बताये हैं–(१) सिद्धिसुगत, (२) देवसुगत (३) मनुष्यसुगत।

अंगुत्तरनिकाय में भी राग-द्वेष और मोह को नष्ट करने वाले को सुगत कहा है।

स्थानांग के अनुसार[२५५] पाँच कारणों से जीव दुर्गति में जाता हैं। वे कारण हैं– (१) हिंसा, (२) असत्य (३) चोरी (४) मैथुन (५) परिग्रह। अंगुत्तरनिकाय[२५६] में नरक जाने के कारणों पर चिन्तन करते हुए लिखा है–अकुशल कायकर्म, अकुशल वाक्कर्म, अकुशल मनःकर्म, सावद्य आदि कर्म।

श्रमण के लिये स्थानांग[२५७] में छह कारणों से आहार करने का उल्लेख है–(१) क्षुधा की उपशान्ति (२) वैयावृत्य (३) ईर्याशोधन (४) संयमपालन (५) प्राणधारण (६) धर्मचिन्तन। अंगुत्तरनिकाय में आनन्द ने एक श्रमणी को इसी तरह का उपदेश दिया है।[२५८]

स्थानांग[२५९] में इहलोक भय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात् भय, वेदनाभय, मरणभय, अश्लोकभय, आदि भयस्थान बताये हैं तो अंगुत्तरनिकाय[२६०] में भी जाति, जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अग्नि, उदक, राज, चोर, आत्मानुवाद–अपने दुश्चरित का विचार (दूसरे मुझे दुश्चरित्रवान् कहेंगे यह भय), दण्ड, दुर्गति, आदि अनेक भयस्थान बताये हैं।

स्थानांगसूत्र[२६१] में बताया है कि मध्यलोक में चन्द्र, सूर्य, मणि, ज्योति, अग्नि आदि से प्रकाश होता है। अंगुत्तरनिकाय[२६२] में आभा, प्रभा, आलोक, प्रज्योत, इन प्रत्येक के चार-चार प्रकार बताये हैं–चन्द्र, सूर्य, अग्नि और प्रज्ञा।

स्थानांग[२६३] में लोक को चौदह रज्जु कहकर उसमें जीव और अजीव द्रव्यों का सद्भाव बताया है। वैसे ही अंगुत्तरनिकाय[२६४] में भी लोक को अनन्त कहा है। तथागत बुद्ध ने कहा है–पाँच कामगुण-रूप-रसादि यही लोक है। और जो मानव पाँच कामगुणों का परित्याग करता है, वही लोक के अन्त में पहुँच कर वहाँ पर विचरण करता है।

स्थानांग[२६५] में भूकम्प के तीन कारण बताये हैं। (१) पृथ्वी के नीचे का घनवात व्याकुल होता है। उससे समुद्र में तूफान आता है। (२) कोई महेश महोरग देव अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करने के लिये पृथ्वी को चलित करता है। (३) देवासुर संग्राम जब होता है तब भूकम्प आता है। अंगुत्तरनिकाय[२६६] में भूकम्प के आठ कारण बताये हैं– (१) पृथ्वी के नीचे की महावायु के प्रकम्पन से उस पर रही हुई पृथ्वी प्रकम्पित होती है। (२) कोई श्रमण ब्राह्मण अपनी ऋद्धि के बल से पृथ्वी-भावना को करता है। (३) जब बोधिसत्व माता के गर्भ में आते हैं। (४) जब बोधिसत्व माता के गर्भ से बाहर आते हैं। (५) जब तथागत अनुत्तर ज्ञान-लाभ प्राप्त करते हैं। (६) जब तथागत धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं। (७) जब तथागत आयु संस्कार को समाप्त करते हैं। (८) जब तथागत निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

स्थानांग[२६७] में चक्रवर्ती के चौदह रत्नों का उल्लेख है तो दीघनिकाय[२६८] में चक्रवर्ती के सात रत्नों का उल्लेख है।

स्थानांग[२६९] में बुद्ध के तीन प्रकार बताये हैं–ज्ञानबुद्ध, दर्शनबुद्ध और चारित्रबुद्ध तथा स्वयंसंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और बुद्धबोधित। अंगुत्तरनिकाय[२७०] में बुद्ध के तथागतबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध ये दो प्रकार बताये हैं।

स्थानांग[२७१] में स्त्री के चरित्र का वर्णन करते हुए चतुर्भंगी बतायी है। वैसे ही अंगुत्तरनिकाय[२७२] में भार्या की सप्तभंगी बतायी हैं–(१) वधक के समान (२) चोर के समान (३) अय्य के समान (४) अकर्मकामा (५) आलसी (६) चण्डी (७) दुरुक्तवादिनी। माता के समान, भगिनी के समान, सखी के समान, दासी के समान, स्त्री के ये अन्य प्रकार भी बताये गये हैं।

स्थानांग[२७३] में चार प्रकार के मेघ बताये हैं–(१) गर्जना करते हैं पर बरसते नहीं हैं (२) गर्जते नहीं हैं, बरसते हैं (३) गर्जते हैं, बरसते हैं (४) गर्जते भी नहीं, बरसते भी नहीं हैं। अंगुत्तरनिकाय[२७४] में प्रत्येक भंग में पुरुष को घटाया गया है–(१) बहुत बोलता है पर करता कुछ नहीं है। (२) बोलता नहीं है पर करता है। (३) बोलता भी नहीं है, करता भी नहीं है। (४) बोलता भी है और करता भी है। इस प्रकार गर्जना और बरसना रूप चतुर्भंगी अन्य रूप से घटित की गई है।

स्थानांग[२७५] में कुम्भ के चार प्रकार बताये हैं–(१) पूर्ण और पूर्ण (२) पूर्ण और तुच्छ (३) तुच्छ और पूर्ण (४) तुच्छ और अतुच्छ। इसी तरह कुछ प्रकारान्तर से अंगुत्तरनिकाय[२७६] में भी कुम्भ की उपमा पुरुष चतुर्भंगी से घटित की है (१) तुच्छ–खाली होने पर ढक्कन होता है (२) भरा होने पर भी ढक्कन नहीं होता। (३) तुच्छ होता है पर ढक्कन नहीं होता। (४) भरा हुआ होता है पर ढक्कन नहीं होता। (१) जिस की वेश-भूषा तो सुन्दर है किन्तु जिसे आर्यसत्य का परिज्ञान नहीं है, वह प्रथम कुम्भ के सदृश है। (२) आर्यसत्य का परिज्ञान होने पर भी बाह्य आकार सुन्दर नहीं है तो वह द्वितीय कुम्भ के समान है। (३) बाह्य आकार भी सुन्दर नहीं और आर्यसत्य का परिज्ञान भी नहीं है। (४) आर्यसत्य का भी परिज्ञान है और बाह्य आकार भी सुन्दर है वह तीसरे-चौथे कुंभ के समान है।

स्थानांग[२७७] में साधना के लिये शल्य-रहित होना आवश्यक माना है। मज्झिम निकाय[२७८] में तृष्णा के लिये शल्य शब्द का प्रयोग हुआ है और साधक को उस से मुक्त होने के लिये कहा गया है। स्थानांग[२७९] में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति का वर्णन है। मज्झिमनिकाय[२८०] में पाँच गतियाँ बताई हैं। नरक, तिर्यक्, प्रेत्यविषयक, मनुष्य और देवता। जैन आगमों में प्रेत्यविषयक और देवता को एक कोटि में माना गया है। भले ही निवासस्थान की दृष्टि से भेद किये गये हैं पर गति की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। स्थानांग[२८१] में नरक और स्वर्ग में जाने के क्रमशः ये कारण बताये हैं–महारम्भ, महापरिग्रह, मद्यमांस का आहार, पंचेन्द्रियवध। तथा सराग संयम, संयमासंयम, बालतप और अकामनिर्जरा ये स्वर्ग के कारण हैं।

मज्झिमनिकाय[२८२] में भी नरक और स्वर्ग के कारण बताये हैं। (कायिक, ३) हिंसक, अदिन्नादायी (चोर), काम में मिथ्याचारी, (वाचिक ४) मिथ्यावादी, चुगलखोर, परुष-भाषी, प्रलापी (मानसिक ३) अभिध्यालु व्यापन्नचित्त, मिथ्यादृष्टि। इन कर्मों को करने वाले नरक में जाते हैं, इसके विपरीत कार्य करने वाले स्वर्ग में जाते हैं।

स्थानांग[२८३] में बताया है कि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, पुरुष ही होते हैं किन्तु मल्ली भगवती स्त्रीलिंग में तीर्थंकर हुई हैं। उन्हें दश आश्चर्यों में से एक आश्चर्य माना जाता है। अंगुत्तरनिकाय[२८४] में बुद्ध ने भी कहा कि भिक्षु यह तनिक भी संभावना नहीं है कि स्त्री अर्हत्, चक्रवर्ती व शुक्र हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानांग विषय-सामग्री की दृष्टि से आगम साहित्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यों सामान्य गणना के अनुसार इस में बारह सौ विषय हैं। भेद-प्रभेद की दृष्टि से विषयों की संख्या और भी अधिक है। यदि इस आगम का गहराई से परिशीलन किया जाए तो विविध विषयों का गम्भीर ज्ञान हो सकता है। भारतीय-ज्ञानगरिमा और सौष्ठव का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। इस में ऐसे अनेक सार्वभौम सिद्धान्तों का संकलन-आकलन हुआ है, जो जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं के ही मूलभूत सिद्धान्त नहीं हैं अपितु आधुनिक विज्ञान-जगत् में वे मूलसिद्धान्त के रूप में वैज्ञानिकों के द्वारा स्वीकृत हैं। हर ज्ञानपिपासु और अभिसन्धित्सु को प्रस्तुत आगम अन्तस्तोष प्रदान करता है।

स्थानांग का व्याख्या-साहित्य

स्थानांग सूत्र में विषय की बहुलता होने पर भी चिन्तन की इतनी जटिलता नहीं है, जिसे उद्घाटित करने के लिये उस पर व्याख्यासाहित्य का निर्माण अत्यावश्यक होता। यही कारण है कि प्रस्तुत आगम पर न किसी निर्युक्ति का निर्माण हुआ और न भाष्य ही लिखे गये, न चूर्णि ही लिखी गई। सर्वप्रथम इस पर संस्कृत भाषा में नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव सूरि ने वृत्ति का निर्माण किया। आचार्य अभयदेव प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने वि. सं. ग्यारह सौ बीस में स्थानांग सूत्र पर वृत्ति लिखी। प्रस्तुत वृत्ति मूल सूत्रों पर है जो केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसमें सूत्र से सम्बन्धित विषयों पर गहराई से विचार हुआ है। विवेचन में दार्शनिक दृष्टि यत्र-तत्र स्पष्ट हुई है। 'तथा हि' 'यदुक्तं' 'उक्तं च' 'आह च' 'तदुक्तं' 'यदाह' प्रभृति शब्दों के साथ अनेक अवतरण दिये हैं। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं। अनुमान से आत्मा की सिद्धि करते हुए लिखा है–इस शरीर का भोक्ता कोई न कोई अवश्य होना चाहिये, क्योंकि यह शरीर भोग्य है। जो भोग्य होता है उस का अवश्य ही कोई भोक्ता होता है। प्रस्तुत शरीर का कर्ता "आत्मा" है। यदि कोई यह तर्क करे कि कर्त्ता होने से रसोइया के समान आत्मा की भी मूर्त्तता सिद्ध होती है तो ऐसी स्थिति में प्रस्तुत हेतु साध्यविरुद्ध हो जाता है किन्तु यह तर्क बाधक नहीं है, क्योंकि संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त्त भी है। अनेक स्थलों पर ऐसी दार्शनिक चर्चाएं हुई हैं। वृत्ति में यत्र-तत्र निक्षेप पद्धति का उपयोग किया है। जो निर्युक्तियों और भाष्यों का सहज स्मरण कराती है। वृत्ति में मुख्य रूप से संक्षेप में विषय को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त भी दिये गये हैं।

वृत्तिकार अभयदेव ने उपसंहार में अपना परिचय देते हुए यह स्वीकार किया है कि यह वृत्ति मैंने यशोदेवगणी की सहायता से सम्पन्न की। वृत्ति लिखते समय अनेक कठिनाइयाँ आईं। प्रस्तुत वृत्ति को द्रोणाचार्य ने आदि से अन्त तक पढ़कर संशोधन किया। उसके लिये भी वृत्तिकार ने उनका हृदय से आभार व्यक्त किया। वृत्ति का ग्रन्थमान चौदह हजार दो सौ पचास श्लोक है। प्रस्तुत वृत्ति सन् १८८० में राय धनपतसिंह द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित हुई। सन् १९१८ और १९२० में आगमोदय समिति बम्बई से, सन् १९३७ में माणकलाल चुन्नीलाल अहमदाबाद से और गुजराती अनुवाद के साथ मुन्द्रा (कच्छ) से प्रकाशित हुई। केवल गुजराती अनुवाद सन् १९३१

में जीवराज धेलाबाई डोसी अहमदाबाद से, सन् १९५५ में पं. दलसुखभाई मालवणिया ने गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद से स्थानांग समवायांग के साथ में रूपान्तर प्रकाशित किया है। जहाँ-तहाँ तुलनात्मक टिप्पण देने से यह ग्रन्थ अतीव महत्त्वपूर्ण बन गया है।

संस्कृतभाषा में संवत् १६५७ में नगर्षिगणी तथा पार्श्वचन्द्र व सुमति कल्लोल और संवत् १७०५ में हर्षनन्दन ने भी स्थानांग पर वृत्ति लिखी है। तथा पूज्य घासीलाल जी म. ने अपने ढंग से उस पर वृत्ति लिखी है। वीर संवत् २४४६ में हैदराबाद से सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद के साथ आचार्य अमोलकऋषि जी. म. ने सरल संस्करण प्रकाशित करवाया। सन् १९७२ में मुनि श्री कन्हैयालाल जी "कमल" ने आगम अनुयोग प्रकाशन, साण्डेराव से स्थानांग का एक शानदार संस्करण प्रकाशित करवाया है, जिसमें अनेक परिशिष्ट भी हैं। आचार्य-सम्राट आत्मारामजी म. ने हिन्दी में विस्तृत व्याख्या लिखी। वह आत्माराम प्रकाशन समिति लुधियाना से प्रकाशित हुई। वि. सं. २०३३ में मूल, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणों के साथ जैन विश्वभारती से इस का एक प्रशस्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त अनेक संस्करण मूल रूप में भी प्रकाशित हुए हैं। स्थानकवासी परम्परा के आचार्य धर्मसिंहमुनि ने अठारहवीं शताब्दी में स्थानांग पर टब्बा (टिप्पण) लिखा था। पर अभी तक वह प्रकाशित नहीं हुआ है।

समय-समय पर युग के अनुरूप स्थानांग पर लिखा गया है और विभिन्न स्थानों से इस सम्बन्ध में प्रयास हुए। उसी प्रयास की लड़ी की कड़ी के रूप में श्रमण-संघ के युवाचार्य मधुकर मुनिजी, जो एक प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी सन्तरत्न थे, मेरे सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. के निकटतम स्नेही, सहयोगी व सहपाठी थे। उनके कुशल निर्देशन में स्थानांग सूत्र का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ है।

इसका अनुवाद और विवेचन दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य मनीषी पं. हीरालालजी शास्त्री ने किया है।

स्थानांग सूत्र के सुभाषित वचन

१. **एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं।** —१।१।३६

मुक्त होने वाली आत्माओं का वर्तमान अन्तिम देह का मरण ही—एक मरण होता है, और नहीं।

२. **एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति** —१।१।३८

एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाता है।

३. **एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए।** —१।१।४०

एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।

४. **जदत्थि णं लोगे, तं सव्वं दुपओआरं।** —२।१

विश्व में जो कुछ भी है वह इन दो शब्दों में समाया हुआ है—चेतन और जड़।

५. **दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव।** —२।१

धर्म के दो रूप हैं—श्रुतधर्म—तत्त्वज्ञान, और चारित्रधर्म—नैतिक आचार।

६. **दुविहे बंधे—पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव।** —२।४

बन्ध के दो प्रकार हैं—प्रेम का बन्धन और द्वेष का बन्धन।

७. **किंभया पाणा ?**

दुक्खभया पाणा।

दुक्खे केण कडे ?

जीवेणं कडे पमाएणं ! —३।२

प्राणी किससे भय पाते हैं ?

दुःख से।

दुःख किसने किया है ?

स्वयं आत्मा ने, अपनी ही भूल से।

८. **तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा**

माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायातिं। —३।३

देवता भी तीन बातों की इच्छा करते रहते हैं–

मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र में जन्म, और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

९. **तओ दुस्सन्नप्पा–दुट्ठे मूढ़े, वुग्गाहिते।** –३।४

दुष्ट को, मूर्ख को और बहके हुए को प्रतिबोध देना–समझा पाना बहुत कठिन है।

१०. **चत्तारि सुता–**

अतिजाते, अणुजाते,

अवजाते, कुलिंगाले। –४।१

कुछ पुत्र गुणों की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते हैं। कुछ पिता के समान होते हैं और कुछ पिता से हीन। कुछ पुत्र कुल का सर्वनाश करने वाले–कुलांगार होते हैं।

११. **चत्तारि फला–**

आमे णामं एगे आममहुरे।

आमे णामं एगे पक्कमहुरे।

पक्के णामं एगे आममहुरे।

पक्के णामं एगे पक्कमहुरे। –४।१

कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते हैं।

कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं।

कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते हैं।

और कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते हैं।

फल की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं–

लघुवय में साधारण समझदार। लघुवय में बड़ी उम्रवालों की तरह समझदार। बड़ी उम्र में भी कम समझदार। बड़ी उम्र में पूर्ण समझदार।

१२. **आवायभद्दए णामं एगे णो संवासभद्दए।**

संवासभद्दए णामं एगे णो आवायभद्दए।

एगे आवायभद्दए वि, संवासभद्दए वि।

एगे णो आवायभद्दए, णो संवासभद्दए। –४।१

कुछ व्यक्तियों की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता।

कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नहीं।

कुछ एक की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी।
कुछ एक का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

१३. **अप्पणो णामं एगे वज्जं पासइ, णो परस्स।**
परस्स णामं एगे वज्जं पासइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि।
एगे णो अप्पणो वज्जं पासइ, णो परस्स। –४।१

कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरों का नहीं।
कुछ दूसरों का दोष देखते हैं, अपना नहीं।
कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरों का भी।
कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरों का।

१४. **दीणे णामं एगे णो दीणमणे।**
दीणे णामं एगे णो दीणसंकप्पे। –४।२

कुछ व्यक्ति शरीर व धन आदि से दीन होते हैं। किन्तु उनका मन और संकल्प बड़ा उदार होता है।

१५. **चउव्विहे संजमे–**
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे। –४।२

संयम के चार रूप हैं–मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि–सामग्री का संयम।

१६. **पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे**
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति। –४।२

पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी नहीं मिटने वाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१७. **सेलथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे**
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति। –४।२

पत्थर के खंभे के समान जीवन में कभी नहीं झुकने वाला अहंकार आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१८. **वंसीमूलकेतणासमाणं मायं अणुपविट्ठे जीवे**
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति। –४।२

बाँस की जड़ के समान अतिनिविड–गांठदार दंभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१९. **किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभं अणुपविट्ठे जीवे**
कालं करेइ नेरइएसु उववज्जति। –४।२
कृमिराग अर्थात् मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नहीं छूटने वाला लोभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

२०. **इह लोगे सुचिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति।**
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। –४।२
इस जीवन में किए हुए सत् कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते हैं।
इस जीवन में किए हुए सत्कर्म अगले जीवन में भी सुखदायी होते हैं।

२१. **चत्तारि पुप्फा–**
रूवसंपन्ने णामं एगे णो गंधसंपन्ने।
गंधसंपन्ने णामं एगे नो रूवसंपन्ने।
एगे रूवसंपन्ने वि गंधसंपन्ने वि।
एगे णो रूवसंपन्ने णो गंधसंपन्ने।
एवामेव चत्तारि पुरिसजाया। –४।३
फूल चार तरह के होते हैं–
सुन्दर, किन्तु गंधहीन।
गंधयुक्त, किन्तु सौन्दर्यहीन।
सुन्दर भी, सुगंधित भी।
न सुन्दर, न गंधयुक्त।
फूल के समान मनुष्य भी चार तरह के होते हैं।
[भौतिक संपत्ति सौन्दर्य है तो आध्यात्मिक सम्पत्ति सुगन्ध है।]

२२. **अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे।**
माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे।
एगे अट्ठ करे वि माणकरे वि।
एगे णो अट्ठकरे, णो माणकरे। –४।३
कुछ व्यक्ति सेवा आदि महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, किन्तु उसका अभिमान नहीं करते।
कुछ अभिमान करते हैं, किन्तु कार्य नहीं करते।
कुछ कार्य भी करते हैं, अभिमान भी करते हैं।
कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान ही करते हैं।

२३. **चत्तारि अवायणिज्जा–**

अविणीए, विगइपडिबद्धे अविओसितपाहुडे, माई। –४।३

चार व्यक्ति शास्त्राध्ययन के योग्य नहीं हैं–

अविनीत, चटोरा, झगड़ालू और धूर्त।

२४. **सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताते विहरइ।**

सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ।

सीयालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ।

सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ। –४।३

कुछ साधक सिंह वृत्ति से साधना पथ पर आते हैं, और सिंहवृत्ति से ही रहते हैं।

कुछ सिंह वृत्ति से आते हैं किंतु बाद में शृगाल वृत्ति अपना लेते हैं।

कुछ शृगाल वृत्ति से आते हैं, किंतु बाद में सिंह वृत्ति अपना लेते हैं।

कुछ शृगाल वृत्ति लिए आते हैं और शृगाल वृत्ति से ही चलते रहते हैं।

२५. **सएणं लाभेणं तुस्सइ**

परस्स लाभं णो आसाएइ....

दोच्चा सुहसेज्जा। –४।३

जो अपने प्राप्त हुए लाभ में संतुष्ट रहता है और दूसरों के लाभ की इच्छा नहीं रखता, वह सुखपूर्वक सोता है। (यह सुख-शय्या का दूसरा पहलू है।)

२६. **चत्तारि समणोवासगा–**

अद्दागसमाणे, पडागसमाणे।

खाणुसमाणे, खरकंटसमाणे। –४।३

श्रमणोपासक की चार कोटियाँ हैं–

दर्पण के समान–स्वच्छ हृदय।

पताका के समान–अस्थिर हृदय।

स्थाणु के समान–मिथ्याग्रही।

तीक्ष्ण कंटक के समान–कटुभाषी।

२७. **अप्पणो णामं एगे पत्तियं करेइ, णो परस्स।**

परस्स णामं एगे पत्तियं करेइ, णो अप्पणो।

एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्स वि।

एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ, णो परस्स। –४।३

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरों का नहीं।
कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरों का भला करते हैं।
कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरों का भी।
और कुछ न अपना भला करते हैं और न दूसरों का।

२८. **तमे णामं एगे जोई**
जोई णामं एगे तमे। –४३

कभी-कभी अन्धकार (अज्ञानी मनुष्य में) में से भी ज्योति (सदाचार का प्रकाश) जल उठती है।
और कभी-कभी ज्योति पर (ज्ञानी हृदय पर) भी अन्धकार (दुराचार) हावी हो जाता है।

२९. **गज्जित्ता णामं एगे णो वासित्ता।**
वासित्ता णामं एगे णो गज्जिता।
एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता। –४।४

मेघ की तरह दानी भी चार प्रकार के होते हैं–
कुछ बोलते हैं, देते नहीं।
कुछ देते हैं किन्तु कभी बोलते नहीं।
कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं।
और कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

३०. **चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा–**
कोहेणं, पडिनिवेसेणं;
अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिणिवेसेणं। –४।४

क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या आग्रह–इन चार दुर्गुणों के कारण मनुष्य के विद्यमान गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

३१. **चत्तारि धम्मदारा–**
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे। –४।४

क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता– ये चार धर्म के द्वार हैं।

३२. **देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति।**
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति।

रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति। –४।४

चार प्रकार के सहवास हैं–
देव का देवी के साथ–शिष्ट भद्र पुरुष, सुशीला भद्र नारी।
देव का राक्षसी के साथ–शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।
राक्षस का देवी के साथ–दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी।
राक्षस का राक्षसी के साथ–दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।

३३. **चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति–**
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए।
अलियवयणेणं, कूडतुला कूडमाणेणं। –४।४

कपट, धूर्तता, असत्य वचन और कूट तुलामान (खोटे तोल माप करना)–ये चार प्रकार के व्यवहार पशुकर्म हैं, इनसे आत्मा पशुयोनि (तिर्यंच-गति) में जाता है।

३४. **चउहिं ठाणेहिं जीवा माणुसत्ताए कम्मं पगरेंति–**
पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। –४।४

सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता–ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म हैं, इनसे आत्मा मानव जन्म प्राप्त करता है।

३५. **मधुकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे।**
मधुकुंभे नामं एगे विसपिहाणे।
विसकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे।
विसकुंभे नामं एगे विसपिहाणे। –४।४

चार तरह के घड़े होते हैं–
मधु का घड़ा, मधु का ढक्कन।
मधु का घड़ा, विष का ढक्कन।
विष का घड़ा, मधु का ढक्कन।
विष का घड़ा, विष का ढक्कन।
[मानव पक्ष में हृदय घट है और वचन ढक्कन]

३६. **हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्चं।**
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे॥ –४।४

जिसका अन्तर, हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है।

३७. **हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं।**
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे॥ –४।४

जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है, किन्तु वाणी से कटु एवं कठोर-भाषी है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है।

३८. **जं हिययं कलुसमयं, जीहाऽवि य मधुरभासिणी णिच्चं।**
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसकुंभे महुपिहाणे॥ –४।४

जिसका हृदय कलुषित और दंभ युक्त है, किन्तु वाणी से मीठा बोलता है, वह मनुष्य विष के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है।

३९. **जं हिययं कलुसमयं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं।**
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे॥ –४।४

जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदा कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है।

४०. **समुद्दं तरामीतेगे समुद्दं तरइ।**
समुद्दं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ।
गोप्पयं तरामीतेगे समुद्दं तरइ।
गोप्पयं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ। –४।४

कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं और समुद्र तैरने जैसा ही महान् कार्य भी करते हैं।

कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं, किन्तु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं।

कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं।

कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं।

४१. **सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था।** –६।१

भगवान ने सर्वत्र निष्कामता (अनिदानता) को श्रेष्ठ बताया है।

४२. **इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए–**
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसित वयणे,

फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए। –६।३

छह तरह के वचन नहीं बोलने चाहिए–
असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मनुष्यों की तरह अविचारपूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन।

४३. **मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू।** –६।३
वाचालता सत्य वचन का विघात करती है।

४४. **इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू।** –६।३
लोभ मुक्तिमार्ग का बाधक है।

४५. **सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा–**
अकाले न वरिसइ, काले वरिसइ,
असाधू ण पुज्जंति, साधू पुज्जंति,
गुरुहिं जणो सम्मं पडिवन्नो,
मणो सुहता; वइ सुहता। –७
इन सात बातों से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है–
असमय पर न बरसना, समय पर बरसना,
असाधुजनों का महत्व न बढ़ना, साधुजनों का महत्व बढ़ना,
माता पिता आदि गुरुजनों के प्रति सद्व्यवहार होना,
मन की शुभता और वचन की शुभता।

४६. **एगमवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा**
अत्थि तस्स आराहणा। –८
जो प्रमादवश हुए कपटाचरण के प्रति पश्चात्ताप (आलोचना) करके सरलहृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है।

४७. **असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए**
अब्भुट्ठेयव्वं भवति। –८
अभी तक नहीं सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

४८. **सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए उवधारणयाए**
अब्भुट्ठेयव्वं भवति। –८
सुने हुए धर्म को ग्रहण करने–उस पर आचरण करने को तत्पर रहना चाहिए।

४९. **असंगिहीयपरिजणस्स संगिण्हणयाए**

अब्भुट्ठेयव्वं भवति। –८

जो अनाश्रित एवं असहाय हैं, उनको सहयोग तथा आश्रय देने में सदा तत्पर रहना चाहिए।

५०. **गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए**

अब्भुट्ठेयव्वं भवति। –८

रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

५१. **णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई।** –९

ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए।

५२. **नो सिलोगाणुवाई,**

नो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवइ। –९

साधक कभी भी यश, प्रशंसा और दैहिक सुखों के पीछे पागल न बने।

५३. **नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया–**

अच्चासणाए, अहियासणाए, अइनिद्दाए,

अइजागरिएण, उच्चारनिरोहेणं, पासवणनिरोहेणं,

अद्धाणगमणेणं, भोयणपडिकूलयाए, इंदियत्थ-विकोवणयाए। –९

रोग होने के नौ कारण हैं–

अति भोजन, अहित भोजन, अतिनिद्रा,

अति जागरण, मल के वेग को रोकना, मूत्र के वेग को रोकना,

अधिक भ्रमण करना, प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना, अति विषय सेवन करना।

५४. **ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सति वा**

जं जीवा अजीवा भविस्संति,

अजीवा वा जीवा भविस्संति। –१०

न ऐसा कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा ही कि जो चेतन हैं वे कभी अचेतन–जड़ हो जाएँ, और जो जड़ अचेतन हैं वे चेतन हो जाएँ।

(सूत्र त्रिवेणी से साभार)

सन्दर्भ स्थल

टिप्पण–

१. यद् भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थंकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं, भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिदतिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्। –तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १।२०

२. तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी ।
तो मुइय नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहट्ठाए ॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं ।
–आवश्यक निर्युक्ति, गा. ८९-९०

३. क–समवायांग-द्वादशांग परिचय
ख–नन्दीसूत्र, सूत्र ५७

४. बृहत्कल्पभाष्य २०२–२०३

५. (क) आचारांग अ. ४ सूत्र १३६
(ख) सूत्रकृतांग २।१।१५, २।२।४१

६. अन्ययोगव्यवच्छेदिका ५ आ. हेमचन्द्र

७. आवश्यक निर्युक्ति १९२

८. नन्दीसूत्र ४०

९. (क) विशेषावश्यक भाष्य गा. ५५०
(ख) बृहत्कल्पभाष्य गा. १४४
(ग) तत्त्वार्थभाष्य १-२०
(घ) सर्वार्थसिद्धि १।२०

१०. (क) सामाइयमाइयाइं एकारस अंगाइं अहिज्जइ–अंतगड ६ वर्ग अ. १५.
(ख) अन्तगड ८ वर्ग अ-१
(ग) भगवतीसूत्र २।१।९
(घ) ज्ञाताधर्म अ. १२ । ज्ञाता २।१

११. (क) चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ–अन्तगड ३ वर्ग. अ. ९
(ख) अन्तगड ३ वर्ग, अ. १
(ग) भगवतीसूत्र ११-११-४३२ । १७-२-६१७

१२. अन्तगड वर्ग ४, अ. १

१३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स नवगणा इक्कारस गणहरा हुत्था। –कल्पसूत्र

१४. एक वाचनिको यतिसमुदायो गणः –कल्पसूत्र सुबोधिका वृत्ति

१५. एवं रचयतां तेषां सप्तानां गणधारिणाम् ।
परस्परमजायन्त विभिन्नाः सूत्रवाचनाः ॥
अकम्पिताऽचलभ्रात्रोः श्रीमेतार्यप्रभासयोः ।
परस्परमजायन्त सदृक्षा एव वाचनाः ।
श्रीवीरनाथस्य गणधरेष्वेकादशस्वपि ॥
द्वयोर्द्वयोर्वाचनयोः साम्यादासन् गणा नव ॥
–त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व १०, सर्ग ५, श्लोक १७३ से १७५

१६. सामिस्स जीवंते णव कालगता, जो य कालं करेति सो सुधम्मसामिस्स गणं देति, इंदभूति सुधम्मो य सामिम्मि परिनिव्वुए परिनिव्वुता। –आवश्यकचूर्णि, पृ.३३९

१७. तीर्थंकरगणभृतां मिथो भिन्नवाचनत्वेऽपि साम्भोगिकत्वं भवति न वा ? तथा सामाचार्यादिकृतो बेदो भवति न वा ? इति प्रश्ने उत्तरम्–गणभृतां परस्परं वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेदः सम्भाव्यते, तद्भेदे च कथञ्चिद् साम्भोगिकत्वमपि सम्भाव्यते। –सेनप्रश्न, उल्लास २, प्रश्न ८१

१८. सूयगडंगसुत्तं-प्रस्तावना, पृष्ठ.२८-३०

१९. जदा य गणहरा सव्वे पव्वजिता ताहे किर एगनिसज्जाए एगारस अंगाणि चोद्दसहिं चोद्दस पुव्वाणि, एवं ता भगवता अत्थो कहितो, ताहे भगवंतो एगपासे सुत्तं करे (रें) ति तं अक्खरेहिं पदेहिं वंजणेहि समं, पच्छा सामी जस्स जत्तियो गणो तस्स तत्तियं अणुजाणति। आतीय सुहम्मं करोति, तस्स महल्लमाउयं, एत्तो तित्थं होहिति त्ति।
–आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ३३७

२०. समवायांगसूत्र, पृष्ठ ७

२१. देखिये–पुण्यविजयजी व जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित जैन आगम ग्रन्थमाला के टिप्पण।

२२. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिवृत्ति (ख) कल्पसूत्र १९५

२३. (क) प्रज्ञापनासूत्र, पद १ (ख) त्रिषष्टि–१-२-९६३

२४. प्रज्ञापनासूत्र, पद–१

२५. प्रज्ञापनासूत्र, पद–१

२६. (क) स्थानांगसूत्र, स्थान–५ (ख) बृहत्कल्पभाष्य ३ । ३, ८, २२
(ग) आउटलाइन्स आफ पैलियोग्राफी, जर्नल आफ यूनिवर्सिटी आफ बोम्बे, जिल्द ६, भा. ६, पृ. ८७, एच. आर. कापडिया तथा ओझा, वही पृ. ४–५६

२७. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति पत्र–२५

२८. निशीथ चूर्णि उ. १२

२९. राइस डैविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. १०८

३०. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. २

३१. क–दशवैकालिक चूर्णि, पृ. २१
ख–बृहत्कल्पनिर्युक्ति, १४७ उ. ७३
ग–विशेषशतक–४९

३२. कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छि त्ति निवित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ। –दशवैकालिक चूर्णि, पृ. २१

३३. गणपरमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजय-तिय केवलि -सिज्झणाण जंबुम्मि वुच्छिन्ना ॥ –विशेषावश्यकभाष्य, २५९३

३४. तित्थोगाली गाथा–७१४–श्वेताम्बर जैन संघ, जालोर

३५. क–आवश्यकचूर्णि भाग–२, पृ. १८७,
ख–परिशिष्ट पर्व–सर्ग-९, श्लो. ५५–६९।

३६. आवश्यकचूर्णि, भाग दो, पत्र १८७।

३७. अह बारस वारिसिओ, जाओ कूरो कयाइ दुक्कालो।
सव्वो साहुसमूहो, तओ गओ कत्थई कोई ॥ २२ ॥
तदुवरमे सो पुणरवि, पाडिले पुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थिति ॥ २३ ॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणगाइ तं सव्वं।
संघडियं एक्कारसंगाइं तहेव ठवियाइं ॥ २४ ॥
–उपदेशमाला, विशेषवृत्ति पत्रांक २४१

३८. नेपालवत्तणीए य भद्दबाहुसामी अच्छंति चौद्दसपुव्वी।
–आवश्यक चूर्णि भाग-२, पृ. १८७

३९. सो भणिए एव भाणिए, असिट्ठ किलिट्ठएणं वयणेणं।
न हु ता अहं समत्थो, इण्हिं मे वायणं दाउं ॥
अप्पट्ठे आउत्तस्स मज्झ किं वायणाए कायव्वं।
एवं च भणियमेत्ता रोसस्स वसं गया साहू ॥ –तित्थोगाली–गाथा २८, २९

४0. भवं भणंतस्स तुहं को दंडो होई तं मुणसु। –तित्थोगाली

४१. तं ते भणंति दुक्कालनिमित्तं महापाणं पविट्ठोमि तो न जाति वायणं दातुं।
–आवश्यकचूर्णि भाग-२, पत्रांक १८७

४२. तेहिं अण्णोवि संघाडओ विसज्जितो, जो संघस्स आणं–अतिक्कमति तस्स को दंडो ? तो अक्खाई उग्घाडिज्जई। ते भणंति मा उग्घाडेह, पेसेह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि। –आवश्यकचूर्णि भाग-२, पत्रांक १८७

४३. एक्केण कारणेणं, इच्छं मे वायणं दाउं
अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइं उज्जुत्तो।

न वि अहं वायरियव्वो, अहंपि नवि वायरिस्सामि ॥
पारियकाउस्सग्गो, भत्तट्ठित्तो व अहव सेज्जाए ।
निंतो व अइंतो वा एवं भे वायं दाहं ॥

–तित्थोगाली–गाथा ३५ ३६ ।

४४. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९ गाथा-७०

४५. तित्थोगाली–

४६. श्रीभद्रबाहुपादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः ।
पूर्वाणामष्टकं वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम् ॥ –परिशिष्ट पर्व, सर्ग–९

४७. दृष्ट्वा सिंहं तु भीतास्ताः सूरिमेत्य व्यजिज्ञपन् ।
ज्येष्ठार्यं जग्रसे सिंहस्तत्र सोऽद्यापि तिष्ठति ॥ –परिशिष्ट पर्व सर्ग–९, श्लोक-८१

४८. अह भणइ थूलभद्दो अण्णं रूवं न किंचि काहामो ।
इच्छामि जाणिउं जे, अहं चत्तारि पुव्वाइं ॥ –तित्थोगाली पइन्ना–८००

४९. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका संघभेद प्रकरण पृ. ३७५
–पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी

५०. (क) षट्खण्डागम, भाग-१, पृ. ९६
(ख) सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद १-२०
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलंक १-२०
(घ) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, नेमिचन्द्र, पृ.१३४

५१. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरियं सगलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगामिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ॥ –दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति–गाथा-१

५२. आसि उज्जेणीणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण ।
जाणियं सुणिमित्तधरो भणियो संघो णियो तेण ॥ –भावसंग्रह

५३. इतश्च तस्मिन् दुष्काले-करालें कालरात्रिवत् ।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥ –परिशिष्ट पर्व-सर्ग ९ श्लोक-५५

५४. सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यम्भवस्तदा ।
दशवैकालिकं नाम, श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥ –परिशिष्ट पर्व-सर्ग-५ श्लोक-८५

५५. (क) जैन दर्शन का आदिकाल पृष्ठ ६–पं. दलसुख मालवणिया
(ख) आगम युग का जैन दर्शन-पृष्ठ २७

* सुट्ठियसुपडिबुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमंसामि ।
भिक्खुराय कलिंगाहिवेण सम्माणिए जिट्ठे ॥ –हिमवंत स्थविरावली, गा. १०

** क–जर्नल आफ दी विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, –भाग १३, पृ. ३३६
ख–जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ. ८२
ग–जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, पृ. १०-११-साध्वी संघमित्रा

५६. इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसंघं मेलिअ आगमाणओगो पवत्तिओ खंदिलायरियेण। –विविध तीर्थकल्प–पृ. १९

५७. पारिजातोऽपारिजातो जैनशासननन्दने ।
सर्वश्रुतानुयोगद्रु-कन्दकन्दलनाम्बुदः ॥
विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टदः ।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः पादलिप्तप्रभोः कुले ॥ –प्रभावकचरित, पृ. ५४

५८. अण्णे भणंति जहा-सुत्तं ण णट्ठं, तम्मि दुब्भिक्खकाले जे अण्णे पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा, एगे खंदिलायरिए संघरे, तेण मधुराए अणुओगो पुणो साधूणं पवत्तितो त्ति मधुरा वायणा भण्णति। –नन्दीचूर्णि, गा. ३२, पृ. ९

५९. अहवा कालियं आयारादि सुत्तं तदुवदेसेणं सण्णी भण्णति । –नन्दीचूर्णि, पृ. ४६

६०. जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि ।
बहुनगरनिग्गयजसो ते वंदे खंदिलायरिए॥ –नन्दीसूत्र ॥ गा. ३२

६१. क–नन्दीचूर्णि पृ. ९
ख–नन्दीसूत्र, गाथा-३३, मलयगिरि वृत्ति-पृ. ५१

६२. जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. ७–पं. दलसुख मालवणिया

६३. इह हि स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्यमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा एको बल्लभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यवाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः।
–ज्योतिष्करण्डक टीका

६४. जैन दर्शन का आदिकाल–पृ. ७

६५. वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृ. ११४ –गणिकल्याणविजय

६६. जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. ७

६७. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. १७० से १८५
देवेन्द्रमुनि प्र. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय-उदयपुर –श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

६९. (क) मिउमद्दवसंपण्णे आणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे णागज्जुणवायए वंदे ॥ –नन्दीसूत्र गाथा ३५
(ख) लाइफ इन ऐन्श्येंट इंडिया एज डेपिक्टेड इन दी जैन कैनन्स पृ. ३२-३३
–(ला० इन ए० इ०) डा० जगदीशचन्द्र जैन बम्बई, १९४७
(ग) योगशास्त्र प्र. ३, पृ. २०७

७०. से किं तं ..... दव्वसुअं ? पत्तयपोत्थयलिहिअं। –अनुयोगद्वार सूत्र

७१. जिनवचनं च दुष्यमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्य्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम् । –योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७

७२. वलहीपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण ।
पुत्थइ आगमु लिहियो नवसय असीआओ विराओ ॥

७३. परोप्परमसंपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिल्लनागज्जुणायरिया कालं काउं देवलोगं गया। तेण तुल्लयाए वि तद्दुधारियसिद्धंताणं जो संजाओ कथम (कहमवि) वायणा भेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं। –कहावली-२९८

७४. नन्दीसूत्र चूर्णि पृ. १३।

७५. जैनदर्शन का आदिकाल, पृ. ७

७६. दसवेआलियं, भूमिका, पृ. २७, आचार्य तुलसी

७७. सामाचारीशतक, आगम स्थापनाधिकार-३८

७८. (क) सामाचारीशतक आगम स्थापनाधिकार-३८
(ख) गच्छाचार-पत्र–३ से ४ ।

७९. अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअ अज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥
–आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ७७३-७७४

८०. जत्थ एते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जंति पहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुजोगो पुणं जं एक्केक्कं सुत्तं एतेहिं चउहिं वि अणुयोगेहिं सत्तहिं णयसतेहिं वक्खाणिज्जति॥
–सूत्रकृताङ्गचूर्णि पत्र–४

८१. तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तं जहा–अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च ।
–नन्दीसूत्र सूत्र–७७।

८२. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति १।२०

८३. जैनसूत्राज–भाग १ प्रस्तावना पृष्ठ–९

८४. ठाणेणं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्ढीए दसट्ठाणगविवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जति। –नन्दीसूत्र, सूत्र ८२

८५. ठाणं णाम जीवपुद्गलादीणामेगादिएगुत्तरकमेण ठाणाणि वण्णेदि।
–कसायपाहुड, भाग १, पृ. १२३

८६. 'ठाविज्जंति' त्ति स्वरूपतः स्थाप्यंते प्रज्ञाप्यंत इत्यर्थः। –नन्दीसूत्रचूर्णि, पृष्ठ ६४

८७. तिष्ठन्त्यस्मिन् प्रतिपाद्यतया जीवादय इति स्थानम् ..... स्थानेन स्थाने वा जीवाः स्थाप्यन्ते, व्यवस्थितस्वरूपप्रतिपादनयेति हृदयम्
–नन्दीसूत्र हारिभद्रीया वृत्ति पृ. ७९

८८. एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिओ।
चतुसंकमणाजुत्तो पंचग्गुणप्पहाणो य॥

छक्कायक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगिसब्भावो।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसट्ठाणिओ भणिओ॥
–कसायपाहुड, भाग-१ पृ-११३ । ६४, ६५

८९. ववहारसुत्तं, सूत्र १८, पृ. १७५–मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

९०. ठाणं-समवाओऽवि य अंगे ते अट्ठवासस्स-अन्यथा दानेऽस्याज्ञाभंगादयो दोषाः।
–स्थानांग टीका

९१. ठाण-समवायधरे कप्पइ आयरित्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।
–व्यवहारसूत्र–उ-३ सू-६८।

९२. समवायांग–सूत्र १३९, पृष्ठ १२३, मुनि कन्हैयालाल जी म.

९३. नन्दी. ८७ पृष्ठ ३५, पुण्यविजयजी म.

९४. कल्पसूत्र सूत्र–२०६ से २१६ तक–देवेन्द्रमुनि

९५. णाणुप्पत्तीए दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा। –आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा–७८४

९६. चोद्दस सोलहसवासा, चोद्दस वासुत्तरा य दोण्णि सया।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया उ चोयाला।
–आवश्यकनिर्युक्ति,गाथा–७८३,७८४

९७. तत्र च दशाध्ययनानि –स्थानांग वृत्ति, पत्र–३

९८. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ६, गाथा–१९

९९. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २३, गाथा–३२

१००. बृहत्कल्प भाष्य–गाथा–२८८0

१०१. निशीथ भाष्य गाथा ३६५६

१०२. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति–५३३

१०३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक–द्वितीय भाग पृ. ६२४

१०४. आवश्यकनिर्युक्ति–२७५।

१०५. आवश्यकचूर्णि–२७0।

१०६. अंगुत्तरनिकाय द्वितीय भाग–पृ. ४२५ से ४२७

१०७. णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेओ –धवला षट्खण्डागम पु. १ पृ. १०

१०८. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः । –तत्त्वार्थसूत्र १।५

१०९. चत्तारि सव्वा पन्नता–नामसव्वए, ठवणसव्वए, आएससव्वए, निरवसेससव्वए।
–स्थानांग–२९९

११०. स्थानांगसूत्र-स्थान–५

१११. स्थानांगसूत्र–स्थान–२ सूत्र–८६

११२. देखिये जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण पृ. ३२६ से ३७२ आचार्य देवेन्द्र मुनि

११३. स्थानांग सूत्र–स्थान, २, सूत्र ८६ से १०६।
११४. स्थानांग सूत्र–स्थान ४, सूत्र ३३८।
११५. चरक, विमान स्थान, अ. ८ सूत्र ३३।
११६. चरक, विमान स्थान अ. ८ सूत्र ४१।
११७. स्थानांग सूत्र स्थान ४ सूत्र २५८।
११८. स्थानांग सूत्र स्थान ३ सूत्र १८५।
११९. न्यायावतार वार्तिक वृत्ति-कारिका ३।
१२०. न्यायावतार, वार्तिक वृत्ति के टिप्पण पृ. १४८ से १५१ तक
१२१. स्थानांग सूत्र स्थान–९
१२२. बृहत्कल्प भाष्य–६०३५
१२३. स्थानांग सूत्र–स्थान ६ सूत्र ५१२
१२४. तुलना कीजिये–चरक विमान स्थान अ. ८ सूत्र २१
१२५. तुला कीजिये–चरक विमान स्थान अ. ८ सूत्र १६
१२६. स्थानांग सूत्र स्थान १० सूत्र ७४३
१२७. स्थानांग सूत्र स्थान ७
१२८. स्थानांग सूत्र स्थान ७
१२९. स्थानांग सूत्र स्थान २ सूत्र ७२
१३०. स्थानांग सूत्र स्थान ३ सूत्र ४३ से १३७
१३१. स्थानांग सूत्र स्थान २
१३२. स्थानांग सूत्र स्थान २ सूत्र ४०
१३३. स्थानांग सूत्र स्थान ५ सूत्र ३८९
१३४. स्थानांग सूत्र स्थान ४ सूत्र ४३०
१३५. स्थानांग सूत्र स्थान ४ सूत्र ४३१
१३६. स्थानांग सूत्र स्थान–१० सूत्र ७१२
१३७. स्थानांग सूत्र वृत्ति पत्र–पृ. ४४९
१३८. स्थानांग सूत्र-स्थान १० सूत्र २ मुनि श्री कन्हैयालालजी सम्पादित
१३९. समवायांग सूत्र- समवाय-१० सूत्र १
१४०. भगवती सूत्र शतक १२ उद्दे. १०
१४१. स्थानांग अ. १ सूत्र ४
१४२. समवायांग सम. १ सूत्र ५
१४३. भगवती शतक १ उद्दे. ६
१४४. प्रज्ञापना सूत्र पद १६
१४५. स्थानांग अ. १ सूत्र ५
१४६. समवायांग सम-१ सूत्र ७
१४७. भगवती शत. १२ उ. ७ सूत्र ७
१४८. औपपातिक सूत्र ५६
१४९. स्थानांग अ. १ सूत्र ७
१५०. समवायांग सम. १ सूत्र ९
१५१. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
१५२. भगवती शत. २० उ. २
१५३. स्थानांग अ. १ सूत्र ८
१५४. समवायांग सम. १ सूत्र १०
१५५. सूत्रकृतांग श्रु.२ अ. ५
१५६. भगवती शत. २० उ. २
१५७. स्थानांग अ. १ सू. ११
१५८. समवायांग सम. १ सू. ११
१५९. सूत्रकृतांग-श्रु. २ अ. ५
१६०. औपपातिक-सूत्र–३४
१६१. स्थानांग सूत्र अ. १ सूत्र १२
१६२. समवायांग १ सूत्र १२
१६३. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
१६४. औपपातिक सूत्र ३४
१६५. स्थानांग अ-१ सूत्र ९, १०
१६६. समवायांगसूत्र १ सम १ सूत्र १३, १४

१६७. सूत्रकृतांगसूत्र श्रु.२ अ. ५
१६८. औपपातिकसूत्र-३४
१६९. स्थानांगसूत्र अ-१ सूत्र १३, १४, १५, १६
१७०. समवायांगसूत्र सम. १ सूत्र-१५, १६, १७, १८
१७१. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत २ अ. ५
१७२. औपपातिकसूत्र–३४
१७३. स्थानांगसूत्र सूत्र -५५
१७४. समवायांगसूत्र २३, २४, २५
१७५. सूर्यप्रज्ञप्ति, प्रा. १० प्र. ९
१७६. स्थानांगसूत्र, सूत्र ३२८
१७७. समवायांगसूत्र, सम-१, सूत्र १९, २०, २१, २२
१७८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र वक्ष-१ सूत्र ३
१७९. प्रज्ञापनासूत्र-पद-२
१८०. स्थानांगसूत्र, अ. ४ उ. ४ सूत्र ९५
१८१. समवायांगसूत्र १४९
१८२. प्रज्ञापना पद. १ सूत्र-१
१८३. जीवाभिगम प्रति. १ सूत्र-१
१८४. उत्तराध्ययन अ. ३६
१८५. स्थानांगसूत्र अ. २ उ. ४ सूत्र-९६
१८६. प्रश्नव्याकरण ५वाँ
१८७. प्रज्ञापना पद २३
१८८. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३१
१८९. स्थानांगसूत्र–अ. २, उ. ४, सूत्र ११०
१९०. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, प्रा. ९, सूत्र ४२
१९१. समवायांगसूत्र–सम. २, सूत्र ५
१९२. स्थानांगसूत्र–अ. ३, उ. १, सूत्र १२६
१९३. समवायांगसूत्र, सम. ३, सूत्र १
१९४. प्रश्नव्याकरणसूत्र, ५वाँ संवरद्वार
१९५. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३१
१९६. आवश्यकसूत्र, अ. ४
१९७. स्थानांगसूत्र–अ. ३, उ. ३, सूत्र १८२
१९८. समवायांग, सम. ३, सूत्र ३
१९९. प्रश्नव्याकरण सूत्र, ५वाँ संवरद्वार
२००. उत्तराध्ययन, अ. ३१
२०१. आवश्यकसूत्र, अ. ४
२०२. स्थानांग, अ. ३, उ. ४, सूत्र २१४
२०३. समवायांग, सम. ३, सूत्र ४
२०४. प्रश्नव्याकरण, ५वाँ संवरद्वार
२०५. स्थानांग, अ. ३, उ. ४, सूत्र २२७
२०६. समवायांग, सम. ३, सूत्र ७
२०७. सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रा. १०, प्रा. ९, सूत्र ४२
२०८. स्थानांगसूत्र, अ. ४, उ. १, सूत्र २४७
२०९. समवायांग, सम. ४, सूत्र २
२१०. भगवती, शत. २५, उ. ७, सूत्र २८२
२११. औपपातिक सूत्र, ३०
२१२. स्थानांग, अ. ४, उ. १, सूत्र २४९
२१३. समवायांग, सम. ४, सूत्र १
२१४. प्रज्ञापना, पद १४, सूत्र १८६
२१५. स्थानांग, अ. ४, उ. २, सूत्र २८२
२१६. प्रश्नव्याकरण, ५वाँ संवरद्वार
२१७. समवायांग, सम. ४, सूत्र ४
२१८. स्थानांगसूत्र, अ. ४, उ. ४, सूत्र ३५६
२१९. समवायांग, सम. ४, सूत्र ४
२२०. प्रज्ञापना सूत्र, पद ८
२२१. स्थानांग सूत्र–अ. ४, सूत्र ४८६

२२२. समवायांग, सम. ४, सूत्र ७
२२३. सूर्यप्रज्ञप्ति, प्रा. १०, प्रा. ९, सूत्र ४२
२२४. स्थानांगसूत्र–अ. ८, उ. १, सूत्र ६३४
२२५. समवायांग सूत्र–सम. ४, सूत्र ६
२२६. स्थानांग–स्थान-६
२२७. अंगुत्तरनिकाय ४-७७
२२८. स्थानांग–स्था. ५, सूत्र ४१८
२२९. अंगुत्तर निकाय–३-५८, ६-६३
२३०. मज्झिमनिकाय–१-१-२
२३१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सूत्र १, २
२३२. स्थानांगसूत्र स्थान–७, सूत्र ५६९
२३३. अंगुत्तरनिकाय १०, ६९
२३४. स्थानांग ९६
२३५. अंगुत्तरनिकाय ३/३
२३६. अंगुत्तरनिकाय ३/९७, ३/३९
२३७. स्थानांग ६०६
२३८. अंगुत्तरनिकाय ३/३९
२३९. स्थानांग ४२७
२४०. अंगुत्तरनिकाय ६/५८
२४१. अंगुत्तरनिकाय ६/६३
२४२. स्थानांगसूत्र-४
२४३. स्थानांग, स्थान-५
२४४. अंगुत्तरनिकाय ८/२५
२४५. स्थानांग, स्थान-६, सूत्र ५३४
२४६. अंगुत्तरनिकाय-४२
२४७. स्थानांग ५१
२४८. अंगुत्तरनिकाय ६/६/३, भाग तीसरा, पृ. ३५, ९३-९४
२४९. अंगुत्तरनिकाय ६/६/३, भाग तीसरा, पृ. ९३, ९४
२५०. महाभारत, शान्तिपर्व २८०।३३
२५१. गीता ८।२६
२५२. धम्मपद पण्डितवग्ग, श्लोक १९
२५३. पातंजलयोगसूत्र ४।७
२५४. (क) स्थानांगसूत्र–१८४
(ख) अंगुत्तरनिकाय ३।७२
२५५. स्थानांग ३९१
२५६. अंगुत्तरनिकाय ३।७२
२५७. स्थानांग ५००
२५८. अंगुत्तरनिकाय ४।१५९
२५९. स्थानांग ५४९
२६०. अंगुत्तरनिकाय ४।११९
२६१. स्थानांग–स्थान ४
२६२. अंगुत्तरनिकाय ४।१४१, १४५
२६३. स्थानांगसूत्र ८
२६४. अंगुत्तरनिकाय ८।७०
२६५. स्थानांग–३
२६६. अंगुत्तरनिकाय ४।१४१, १४५
२६७. स्थानांगसूत्र–७
२६८. दीघनिकाय–१७
२६९. स्थानांग–३।१५६
२७०. अंगुत्तरनिकाय २।६।५
२७१. स्थानांग–२७९
२७२. अंगुत्तरनिकाय ७।५९
२७३. स्थानांग–४।३४६
२७४. अंगुत्तरनिकाय ४।११०
२७५. स्थानांग–४।३६०
२७६. अंगुत्तरनिकाय ४।१०३
२७७. स्थानांग–सू. १८२
२७८. मज्झिमनिकाय–३-१-५
२७९. स्थानांग–स्थान ४
२८०. मज्झिमनिकाय–१-२-२
२८१. स्थानांग–स्थान ४ उ. ४ सू. ३७३
२८२. मज्झिमनिकाय–१-५-१
२८३. स्थानांग–स्थान १०
२८४. अंगुत्तरनिकाय

समवायांग सूत्र : अन्तर-बाह्य अनुशीलन

नाम-बोध

श्रमण भगवान् महावीर की विमल वाणी का संकलन-आकलन सर्वप्रथम उन के प्रधान शिष्य गणधरों ने किया। वह संकलन-आकलन अंग सूत्रों के रूप में विश्रुत है। अंग बारह हैं :–आयार, सूयगड, ठाण, समवाय, विवाहपण्णत्ति, नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाइयदसा, पण्हावागरण, विवागसुय और दिट्ठिवाय।[1] वर्तमान समय में बारहवाँ अंग दृष्टिवाद अनुपलब्ध है। शेष ग्यारह अंगों में समवाय का चतुर्थ स्थान है। आगम साहित्य में इसका अनूठा स्थान है। जीवविज्ञान, परमाणुविज्ञान, सृष्टिविद्या, अध्यात्मविद्या, तत्त्वविद्या, इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का यह अनुपम कोष है। आचार्य अभयदेव ने लिखा है–प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव प्रभृति पदार्थों का परिच्छेद या समवतार है। अतः इस आगम का नाम समवाय या समवाओ है।[2] सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है कि इस में जीव आदि पदार्थों का सादृश्य-सामान्य से निर्णय लिया गया है। अतः इस का नाम "समवाय" है।[3]

विषय-वस्तु

आचार्य देववाचक ने[4] समवायांग की विषय-सूची दी है, वह इस प्रकार है–

(१) जीव, अजीव, लोक, अलोक, एवं स्वसमय, पर-समय का समवतार।

(२) एक से लेकर सौ तक की संख्या का विकास।

(३) द्वादशांग गणिपिटक का परिचय।

प्रस्तुत आगम में[5] समवाय की भी विषय-सूची दी गई है। वह इस प्रकार है–

(१) जीव, अजीव, लोक, अलोक, स्व-समय और पर-समय का समवतार (२) एक से सौ संख्या तक के विषयों का विकास (३) द्वादशांगी गणिपिटक का वर्णन (४) आहार (५) उच्छ्वास (६) लेश्या (७) आवास (८) उपपात (९) च्यवन (१०) अवगाह (११) वेदना (१२) विधान (१३) उपयोग (१४) योग (१५) इन्द्रिय (१६) कषाय (१७) योनि (१८) कुलकर (१९) तीर्थंकर (२०) गणधर (२१) चक्रवर्ती (२२) बलदेव-वासुदेव।

दोनों आगमों में आयी हुई विषय सूचियों का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि नन्दीसूत्र में जो आगम-विषयों की सूची आई है, वह बहुत ही संक्षिप्त है। और समवायांग में जो विषय-सूची है, वह बहुत ही विस्तृत है। नन्दी और समवायांग में सौ तक एकोत्तरिका वृद्धि होती है, ऐसा स्पष्ट संकेत किया गया है, किन्तु उन में अनेकोत्तरिका वृद्धि का निर्देश नहीं है। नन्दीचूर्णि में जिनदास गणि महत्तर ने, नन्दी हरिभद्रीया वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने, और नन्दी की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि ने अनेकोत्तरिका वृद्धि का कोई भी संकेत नहीं किया है। आचार्य अभयदेव ने समवायांग वृत्ति में अनेकोत्तरिका वृद्धि का उल्लेख किया है। आचार्य अभयदेव के मत के अनुसार सौ तक एकोत्तरिका वृद्धि होती है और उस के पश्चात् अनेकोत्तरिका वृद्धि होती है।[६] विज्ञों का ऐसा अभिमत है कि वृत्तिकार ने समवायांग के विवरण के आधार पर यह उल्लेख नहीं किया है अपितु समवायांग में जो पाठ प्राप्त है, उसी के आधार से उन्होंने यह वर्णन किया है।

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि नन्दी सूत्र में समवायांग का जो परिचय दिया गया है, क्या उस परिचय से वर्तमान में समुपलब्ध समवायांग पृथक् है ? या जो वर्तमान में समवायांग है, वह देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वाचना का नहीं है? यदि होता तो दोनों विवरणों में अन्तर क्यों होता ? समाधान है–नन्दी में समवायांग का जो विवरण है उस में अन्तिम वर्णन द्वादशांगी का है। परन्तु वर्तमान में जो समवायांग है, उसमें द्वादशांगी से आगे अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिये नन्दीगत समवायांग के विवरण से वह आकार की दृष्टि से पृथक् है। हमने स्थानांग सूत्र की प्रस्तावना में यह स्पष्ट किया है कि आगमों की श्रमण भगवान् महावीर के पश्चात् पाँच वाचनाएँ हुईं। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत आगम की वृत्ति में प्रस्तुत आगम की बृहद् वाचना का उल्लेख किया है। इस से यह अनुमान किया जा सकता है कि नन्दी में समवाय का जो परिचय देववाचक ने दिया है वह लघुवाचना की दृष्टि से दिया हो।

समवायांग के परिवर्धित आकार को लेकर कुछ मनीषियों ने दो अनुमान किये हैं। वे दोनों अनुमान कहाँ तक सत्य-तथ्य पर आधृत हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मेरी दृष्टि से यदि समवायांग पृथक् वाचना का होता तो इस सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य में कहीं न कहीं कुछ अनुश्रुतियाँ अवश्य मिलतीं। पर समवायांग के सम्बन्ध में कोई भी अनुश्रुति नहीं है। उदाहरण के रूप में ज्योतिषकरण्ड ग्रन्थ माथुरी वाचना का है, पर समवायांग के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी नहीं है। अतः विज्ञों का प्रथम अनुमान केवल अनुमान ही है। उस के पीछे वास्तविकता का अभाव है। दूसरे अनुमान के सम्बन्ध में भी नम्र निवेदन है कि भगवती सूत्र[७] में कुलकरों और तीर्थंकरों आदि के पूर्ण विवरण के सम्बन्ध में समवायांग के अन्तिम भाग का अवलोकन करने का संकेत किया है। इसी तरह स्थानांग में भी बलदेव और वासुदेव

के पूर्ण विवरण के लिये समवायांग के अन्तिम भाग का अवलोकन करने हेतु सूचन किया है।[८] इस विचार-चर्चा से यह स्पष्ट है कि समवायांग में जो परिशिष्ट विभाग है, वह विभाग देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने समवायांग में जोड़ा है।

यह शोधार्थी के लिये अन्वेषणीय है कि नन्दी और समवायांग इन दोनों आगमों के संकलनकर्ता देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण हैं, तो फिर उन्होंने दोनों आगमों में जो विवरण दिया है, उस में एकरूपता क्यों न रखी ? दो प्रकार के विवरण क्यों दिये ? समाधान है कि अनेक वाचनाएं समय-समय पर हुई हैं। अनेक वाचनाएँ होने से बहुविध पाठ भी मिलते हैं। सम्भव है कि ये वाचनान्तर-व्याख्यांश अथवा परिशिष्ट मिलाने से हुए हों। विज्ञों ने यह कल्पना की है कि समवायांग में द्वादशांगी का जो उत्तरवर्ती भाग है, वह भाग उस का परिशिष्ट विभाग है। परिशिष्ट विभाग का विवरण नन्दीसूत्र की सूची में नहीं दिया गया है। इसलिये समवायांग की सूची विस्तृत हो गयी है। समवायांग के परिशिष्ट भाग में ग्यारह पदों का जो संक्षेप है, वह किस दृष्टि से इस में संलग्न किया है, यह आगममर्मज्ञों के लिये चिन्तनीय है।

समवायांग का वर्तमान में उपलब्ध पाठ १६६७ श्लोक परिमाण है। इस में संख्या क्रम से पृथ्वी, आकाश, पाताल, तीनों लोकों के जीव आदि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या का परिचय प्रदान किया है। इस में आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेवों से सम्बन्धित वर्णन के साथ भूगोल, खगोल, आदि की सामग्री का संकलन भी किया गया है। स्थानांग के समान ही समवायांग में भी संख्या के क्रम से वर्णन है। दोनों आगमों की शैली समान है। समान होने पर भी स्थानांग में एक से लेकर दश तक की संख्या का निरूपण है। जब कि समवायांग में एक से लेकर कोडाकोडी संख्या वाले विषयों का प्रतिपादन है। स्थानांग की तरह समवायांग की प्रकरण-संख्या निश्चित नहीं है। यही कारण है कि आचार्य देववाचक ने समवायांग का परिचय देते हुए एक ही अध्ययन का सूचन किया है। यह कोष शैली अत्यन्त प्राचीन है। स्मरण करने की दृष्टि से यह शैली अत्यन्त उपयोगी रही है। यह शैली अन्य आगमों में भी दृष्टिगोचर होती है। उत्तराध्ययन सूत्र के इकत्तीसवें अध्ययन–चारित्र विधि में एक से लेकर तेतीस तक की संख्या में वस्तुओं की परिगणना की गयी है। अविवेकपूर्वक प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं ? उन से किस प्रकार बचा जा सकता है और किस प्रकार विवेकपूर्वक प्रवृत्ति की जा सकती है, आदि।

शैली

स्थानांग और समवायांग की प्रस्तुत कोष शैली बौद्ध परम्परा में और वैदिक परम्परा में भी प्राप्त है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय, पुग्गलपञ्ञति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्मसंग्रह में इसी तरह विचारों का संकलन किया गया है।

महाभारत के वनपर्व के १३४वें अध्याय में नन्दी और अष्टावक्र का संवाद है। उस में दोनों पक्ष वाले एक से लेकर तेरह तक वस्तुओं की परिगणना करते हैं। प्राचीन युग में लेखन सामग्री की दुर्लभता थी। मुद्रण का तो पूर्ण अभाव ही था। इसलिये स्मृति की सरलता के लिये संख्याप्रधान शैली अपनाई गयी थी।

समवायांग में संग्रहप्रधान कोष-शैली होते हुए भी कई स्थानों पर यह शैली आदि से अन्त तक एकरूपता लिये हुए नहीं है। उदाहरण के रूप में अनेक स्थानों पर व्यक्तियों के चरित्र आ गये हैं। पर्वतों के वर्णन आ गये हैं तथा संवाद आदि भी। प्रस्तुत आगम में एक संख्यक प्रथम सूत्र के अन्त में यह कथन किया गया है–कितने ही जीव एक भव में सिद्धि को वरण करेंगे। उस के पश्चात् दो से लेकर तेतीस संख्या तक यह प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद कोई कथन नहीं है। जिससे जिज्ञासु के अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्‌बुद्ध होता है कि चौंतीस भव या उससे अधिक भव वाले सिद्धि प्राप्त करेंगे या नहीं ? इस का कोई समाधान नहीं है।

हमारी दृष्टि से आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय आगमों के संकलन करते हुए ध्यान न रहा हो, या कुछ पाठ विस्मृत हो गये हों, जिस की पूर्ति उन्होंने अनन्त संसार न बढ़ जाये, इस भय से न की हो।

यह बात हम पूर्व ही बता चुके हैं कि संख्या की दृष्टि से प्रस्तुत आगम में विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि उस विषय के पश्चात् दूसरा विषय भी उसी विषय के अनुरूप हो। प्रत्येक विषय संख्या दृष्टि से अपने आप में परिपूर्ण है तथापि आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति में एक विषय का दूसरे विषय के साथ सम्बन्ध संस्थापित करने का प्रयास किया है। कहीं-कहीं पर उन्हें पूर्ण सफलता मिली है तो कहीं-कहीं पर ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिकार ने अपनी ओर से हठात् सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः इस प्रकार की शैली में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध हो, यह आवश्यक नहीं। संख्या की दृष्टि से जो भी विषय सामने आया, उस का इस आगम में संकलन किया गया।

चतुष्टय की दृष्टि से वर्णन

समवायांग में द्रव्य की दृष्टि से जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, आदि का निरूपण किया गया है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक, अलोक, सिद्धशिला, आदि पर प्रकाश डाला गया है। काल की दृष्टि से समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्‌गल–परावर्तन, एवं चार गति के जीवों की स्थिति आदि पर चिन्तन किया गया है। भाव की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीर्य, आदि जीव के भावों का वर्णन है। और वर्ण, गन्ध, रस, संस्थान, स्पर्श, आदि अजीव भावों का वर्णन भी किया गया है।

प्रथम समवाय : विश्लेषण

समवायांग के प्रथम समवाय में जीव, अजीव आदि तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए आत्मा, अनात्मा, दण्ड, अदण्ड, क्रिया, अक्रिया, लोक, अलोक, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, आदि को संग्रह नय की दृष्टि से एक-एक बताया गया है। उस के पश्चात् एक लाख योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाले जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्ध विमान आदि का उल्लेख है। एक सागर की स्थिति वाले नारक, देव आदि का विवरण दिया गया है।

प्रथम समवाय में बहुत ही संक्षेप में शास्त्रकार ने जैन दर्शन के मूलभूत तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। भारतीय दर्शनों में सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न आत्मा का रहा है। अन्य दार्शनिकों ने भी आत्मा के सम्बन्ध में चिन्तन किया किन्तु उनका चिन्तन गहराई को लिये हुए नहीं था। विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत थे। कितने ही दार्शनिक आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानते हैं तो कितने ही दार्शनिक आत्मा को अनित्य मानते हैं। कितने ही दार्शनिक आत्मा को अंगुष्ठप्रमाण या तण्डुलप्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन ने अनेकान्त दृष्टि से आत्मा का निरूपण किया है। वह जीव को परिणामी-नित्य मानता है। द्रव्य की दृष्टि से जीव नित्य है, तो पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। यहाँ पर प्रस्तुत एक स्थानक समवाय में, आत्मा अनन्त होने पर भी सभी आत्माएँ असंख्यात प्रदेशी होने से और चेतनत्व की अपेक्षा से एक सदृश हैं। सभी आत्माएँ स्वदेहपरिमाण हैं। अतएव यहाँ आत्मा को एक कहा है। सर्वप्रथम आत्म तत्त्व का ज्ञान आवश्यक होने से स्थानांग और समवायांग दोनों ही आगमों में प्रथम आत्मा की चर्चा की है।

आत्मा को जानने के साथ ही अनात्मा को जानना भी आवश्यक है। अनात्मा को ही अजीव कहा गया है। अजीव के सम्बन्ध से ही आत्मा विकृत होता है। उसमें विभाव परिणति होती है। अतः अजीव तत्त्व के ज्ञान की भी आवश्यकता है। अचेतनत्व सामान्य की अपेक्षा से अजीव एक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, ये सभी अजीव हैं। इन से आत्मा का अनुग्रह या उपघात नहीं होता। आत्मा का उपघात करने वाला पुद्गल द्रव्य है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, वचन, आदि पुद्गल हैं। ये चेतन के संसर्ग से चेतनायमान होते हैं। विश्व में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शवाले जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी पौद्गलिक हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी-गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धों की अवस्थाएँ हैं; और वही आसक्ति का मूल केन्द्र हैं। शरीर के किसी भी स्नायु-संस्थान के विकृत होने पर उसका ज्ञान-विकास रुक जाता है तथापि यह सत्य है कि आत्मा का सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह तैल व बत्ती से भिन्न ज्योति की तरह है। जिस शक्ति से शरीर चिन्मय हो रहा है, वह अन्तःज्योति शरीर से भिन्न है। आत्मा सूक्ष्म कार्मण शरीर के कारण स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है।

इसलिये आत्मा और अनात्मा का ज्ञान साधना के लिये आवश्यक है। इसी तरह दण्ड, अदण्ड, क्रिया, अक्रिया आदि की चर्चा भी मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी है।

भारतीय चिन्तन में लोकवाद की चर्चा बड़े विस्तार के साथ हुई है। विश्व के सभी द्रव्यों का आधार "लोक" है।[९] लोक में अनन्त जीव भी हैं तो अजीव भी। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जहाँ रहते हैं, वह लोक है।[१०] लोक को समग्र भाव से, सन्तति की दृष्टि से निहारें तो वह अनादि अनन्त है। न कोई द्रव्य नष्ट हो सकता है और न कोई असत् से सत् बनता है। जो द्रव्यसंख्या है, उसमें एक परमाणु की भी अभिवृद्धि कोई नहीं कर सकता है। प्रतिसमय विनष्ट होने वाले द्रव्यगत पर्यायों की दृष्टि से लोक सान्त है। द्रव्यदृष्टि से लोक शाश्वत है। पर्यायदृष्टि से अशाश्वत है। कार्यों की उत्पत्ति में काल एक साधारण निमित्त है, जो प्रत्येक परिणमनशील द्रव्य के परिणाम में सहायक होता है। वह भी अपने आप में अन्य द्रव्यों की भाँति परिणमनशील है। आकाश के जितने हिस्से तक छहों द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक है। और उससे परे केवल आकाशमात्र अलोक है। क्योंकि जीव और पुद्गल की गति और स्थिति में धर्म और अधर्म द्रव्य साधारण निमित्त होते हैं। जहाँ तक धर्म और अधर्म द्रव्य का सद्भाव है, वहाँ तक जीव और पुद्गल की गति और अवस्थिति सम्भव है। एतदर्थ ही आकाश के उस पुरुषाकार मध्यभाग को लोक कहा है जो धर्म, अधर्म द्रव्य के बराबर है। धर्म, अधर्म, लोक के मापदण्ड के सदृश हैं। इसीलिये लोक की तरह अलोक भी एक है। जैन आगम साहित्य में जीव और अजीव का जैसा स्पष्ट वर्णन है वैसा बौद्ध साहित्य में नहीं है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में लोक अनन्त है? या सान्त है ? इस प्रश्न के उत्तर को तथागत बुद्ध ने अव्याकृत कहकर टालने का प्रयास किया है। उन्होंने लोक के सम्बन्ध में इतना ही कहा–रूप, रस, आदि पाँच कामगुण से युक्त है। जो मानव इन पाँच कामगुणों का परित्याग करता है, वही लोक के अन्त में विचरण करता है।

पुण्य और पाप ये दोनों शब्द भारतीय साहित्य में अत्यधिक विश्रुत हैं। शुभ कर्म पुण्य है, अशुभ कर्म पाप है। पुण्य से जीव को सुख का और पाप से दुःख का अनुभव होता है। पुण्य और पाप इन दोनों के द्रव्य और भाव ये दो प्रकार हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को सुखानुभूति होती है वह द्रव्य पुण्य है और जीव के दया, करुणा, दान, भावना, आदि शुभ परिणाम भाव पुण्य हैं। उसी तरह जिस कर्म के उदय से जीव को दुःख का अनुभव होता है, वह द्रव्य पाप है और जीव के अशुभ परिणाम भावपाप हैं। सांख्यकारिका[११] में भी पुण्य से ऊर्ध्वगमन और पाप से अधोगमन बताया है। जैनाचार्यों ने भी शुभ अध्यवसाय का फल स्वर्ग और अशुभ अध्यवसाय का फल नरक[१२] कहा है।

पुण्य और पाप की भाँति बन्ध और मोक्ष की चर्चा भी भारतीय साहित्य में विस्तार के साथ मिलती है। दो पदार्थों का विशिष्ट सम्बन्ध बन्ध कहलाता है। यों बन्ध

को यहाँ पर एक कहा है। पर उस के दो प्रकार हैं। एक भाव बन्ध और दूसरा द्रव्य बन्ध। जिन राग, द्वेष और मोह प्रभृति विकारी भावों से कर्म का बन्ध होता है वे भाव भावबन्ध कहलाते हैं। और कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है। यह पूर्ण सत्य है कि दो द्रव्यों का संयोग हो सकता है पर तादात्म्य नहीं। दो मिलकर एक जैसे प्रतीत हो सकते हैं पर एक की सत्ता समाप्त होकर एक शेष नहीं रह सकता।

आचार्य उमास्वाति[१३] ने लिखा है कि योग के कारण आत्मप्रदेशों के साथ सूक्ष्म कर्म-पुद्गल एकक्षेत्रावग्राही हो जाते हैं। अर्थात् जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहे हुए कर्म-पुद्गल जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं। इसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। आत्मा और कर्मशरीर का एक क्षेत्रावगाह के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का कोई रासायनिक मिश्रण नहीं होता। प्राचीन कर्म-पुद्गलों से नवीन कर्म-पुद्गलों का रासायनिक मिश्रण होता है, पर आत्म-प्रदेशों से नहीं। जीव के रागादि भावों से आत्मप्रदेशों में एक प्रकम्पन होता है, उससे कर्म-योग्य पुद्गल आकर्षित होते हैं। इस योग से उन कर्म वर्गणाओं में प्रकृति, यानि एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न होता है। यदि वे कर्मपुद्गल ज्ञान में विघ्न उत्पन्न करने वाली क्रिया से आकर्षित होते हैं तो उन में ज्ञान के आच्छादन करने का स्वभाव पड़ेगा। यदि रागादि कषायों से आकर्षित किये जायेंगे तो उनमें कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार उस कर्म-पुद्गल में फल देने की प्रकृति उत्पन्न होती है। प्रदेशबन्ध और प्रकृति-बन्ध योग से होता है और स्थिति तथा अनुभाग-बन्ध कषाय से होता है।

कर्मबन्ध से पूर्णतया मुक्त होना मोक्ष है। मोक्ष का सीधा और सरल अर्थ है–छूटना। अनादिकाल से जिन कर्मबन्धनों से आत्मा जकड़ा हुआ था, वे बन्धन कट जाने से आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। उसे मुक्ति कहते हैं। बौद्ध-परम्परा में मोक्ष के अर्थ में "निर्वाण" शब्द का प्रयोग हुआ है। उन्होंने क्लेशों के बुझने के अर्थ में आत्मा का बुझना मान लिया है, जिस से निर्वाण का सही स्वरूप ओझल हो गया है। कर्मों को नष्ट करने का इतना ही अर्थ है कि कर्मपुद्गल आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। उन कर्मों का अत्यन्त विनाश नहीं होता।[१४] किसी भी सत् का अत्यन्त विनाश तीनों कालों में नहीं होता। पर्यायान्तर होना ही नाश कहा गया है। जो कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ सम्पृक्त होने से आत्मगुणों का हनन करते थे, जिस से वे कर्मत्व पर्याय से युक्त थे, वह कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। जैसे कर्मबन्धन से मुक्त होकर–आत्मा शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही कर्म पुद्गल भी कर्मत्व–पर्याय से मुक्त हो जाता है। जैन दृष्टि से आत्मा और कर्म पुद्गल का सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है।

बन्ध और मोक्ष के पश्चात् एक आस्रव और एक संवर का उल्लेख किया है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये आस्रव हैं। जिन भावों से कर्मों का आस्रव होता है, वह भावास्रव है और कर्म द्रव्य का आना द्रव्यास्रव है। दूसरे शब्दों में

यों कह सकते हैं कि पुद्गलों में कर्मत्व पर्याय का विकसित होना द्रव्यास्रव है। सामान्य रूप से आस्रव के दो प्रकार हैं–एक साम्परायिक आस्रव, जो कषायानुरञ्जित योग से होने वाले बन्ध का कारण होकर संसार की अभिवृद्धि करता है। दूसरा ईर्यापथ आस्रव जो केवल योग से होने वाला है। इस में कषायाभाव होने से स्थिति एवं विपाक रूप बन्धन नहीं होता। यह आस्रव वीतराग जीवन्मुक्त महात्माओं को ही होता है। कषाय और योग प्रत्येक संसारी आत्मा में रहा हुआ है। जिससे सप्त कर्मों का प्रतिसमय आस्रव होता रहता है। परभव में शरीर आदि की प्राप्ति के लिये आयुःकर्म का आस्रव वर्तमान आयु के त्रिभाग में होता है, अथवा नौवें भाग में होता है, या सत्ताबीसवें भाग में होता है अथवा अन्तर्मुहूर्त आयु अवशेष रहने पर।[१५]

आस्रव से विपरीत संवर है। जिन कारणों से कर्मों का बन्ध होता है, उनका निरोध कर देना 'संवर' है। मुख्य रूप से आस्रव योग से होता है। अतः योग की निवृत्ति ही संवर है।

तथागत बुद्ध ने संवर का उल्लेख किया है। उन्होंने विभाग कर इस प्रकार प्रतिपादन किया है–(१) संवर से इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है और इन्द्रियों का संवर होने से वह गुप्तेन्द्रिय बनता है, जिस से इन्द्रियजन्य आस्रव नहीं होता। (२) प्रतिसेवना–भोजन, पान, वस्त्र, चिकित्सा, आदि न करने पर मन प्रसन्न नहीं रहता और मन प्रसन्न न रहने से कर्मबन्ध होता है। अतः मन को प्रसन्न रखने के लिये इन का उपयोग करना चाहिये जिस से आस्रव का निरोध हो। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि भोगोपभोग की दृष्टि से उसका उपयोग किया जाये तो वह आस्रव का कारण है। (३) अधिवासना–किसी में शारीरिक कष्ट सहन करने की क्षमता है। उसे शारीरिक कष्ट पसन्द है। तो उसे कष्ट सहन से आस्रव-निरोध होता है। (४) परिवर्जन–क्रूर हाथी, घोड़ा, आदि पशु, सर्प, बिच्छू आदि जन्तु, गर्त कण्टक स्थान, पाप मित्र ये सभी दुःख के कारण हैं। उन दुःखों के कारणों को त्यागने से आस्रव का निरोध होता है। (५) विनोदना–हिंसावितर्क, पापवितर्क, काम-वितर्क, आदि बन्धक वितर्कों की भंजना करने से तज्जन्य आस्रव का निरुन्धन होता है। (६) भावना–शुभ भावना से आस्रव का निरुन्धन होता है। यदि शुभ भावना न की जायेगी तो अशुभ भावनाएँ उद्‌बुद्ध होंगी। अतः अशुभ भावना का निरोध करने हेतु शुभ भावना भाना आस्रव के निरुन्धन का कारण है। (–अंगुत्तर निकाय ६ । ५८)

आस्रव और संवर के पश्चात्–वेदना और निर्जरा का उल्लेख है। कर्मों का अनुभव करना "वेदन" है। वह दो प्रकार का है। अबाधाकाल की स्थिति पूर्ण होने पर यथाकाल वेदन करना और कितने ही कर्म, जो कालान्तर में उदय में आने योग्य हैं, उन्हें जीव अपने अध्यवसाय-विशेष से स्थिति का परिपाक होने के पूर्व ही उदयावलि में खींच लाता है, यह उदीरणा है। उदीरणा के द्वारा खींच कर लाये हुए कर्म का वेदन करना यह दूसरा प्रकार है।

बौद्धों ने आस्रव का कारण अविद्या बताया है। अविद्या का निरोध करना ही आस्रव का निरोध करना है। उन्होंने आस्रव के कामास्रव और भवास्रव और अविद्यास्रव ऐसे तीन भेद किये हैं। (–अंगुत्तरनिकाय ३,५८,६,६३)

वेदना के पश्चात् निर्जरा का उल्लेख है। निर्जरा का अर्थ है संचित कर्मों का नाश होना।[१६] आचार्य हेमचन्द्र ने[१७] लिखा है कि भवभ्रमण के बीजभूत कर्म हैं। उन कर्मों का आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाना "निर्जरा" है। वह निर्जरा दो प्रकार की है– सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा। प्रयत्न और ज्ञानपूर्वक तप आदि क्रियाओं के द्वारा कर्मों का नष्ट होना सकामनिर्जरा है। सकामनिर्जरा में आत्मा और मोक्ष का विवेक होता है, जिस से ऐसी अल्पतम निर्जरा भी विराट् फल प्रदान करने वाली होती है।[१८] अज्ञानी जीव जितने कर्मों को करोड़ों वर्षों में नहीं खपा सकता, उतने कर्म ज्ञानी एक श्वासोच्छ्वास जितने अल्प समय में खपा सकता है। अकाम निर्जरा वह है–कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर कर्म का वेदन हो जाने पर उनका पृथक् हो जाना। परतन्त्रता के कारण भोग उपभोग का निरोध होने से भी अकामनिर्जरा होती है। जैसे नारकी या तिर्यञ्च गतियों में जीव असह्य वेदनाएँ, घोरातिघोर यातनाएँ, छेदन-भेदन को सहन करता है और मानव जीवन में भी मजबूरी से अनिच्छापूर्वक कष्टों को सहन करता है। वह दो प्रकार की है। एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा, दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि से कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक रूप से प्रतिसमय कर्मों का फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रत्येक प्राणी को सविपाक निर्जरा होती रहती है। पुराने कर्मों के स्थान को नूतन कर्म ग्रहण करते रहते हैं। तप रूपी अग्नि से–कर्मों को फल देने से पूर्व ही भस्म कर देना औपक्रमिक निर्जरा है। कर्मों का विपाक-फल टल नहीं सकता **"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"** यह नियम प्रदेशोदय पर तो लागू होता है पर विपाकोदय पर नहीं। प्रस्तुत कथन प्रवाहपतित साधारण सांसारिक आत्माओं पर लागू होता है। पुरुषार्थी साधक ध्यान रूपी अग्नि में समस्त कर्मों को एक क्षण में भस्म कर देते हैं। इस प्रकार प्रथम समवाय में जैन दर्शन के मुख्य तत्व आत्मा, अनात्मा, बन्ध, बन्ध के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारण आदि पर प्रकाश डाला गया है। आत्मा के साथ अनात्मा का जो निरूपण किया गया है, वह इसलिये आवश्यक है कि अजीव-पौद्गलिक कर्मों के कारण आत्मा स्व-स्वरूप से च्युत हो रहा है। संग्रह नय की अपेक्षा से शास्त्रकार ने गुरुगम्भीर रहस्यों को इस में व्यक्त किया है।

द्वितीय समवाय : विश्लेषण

दूसरे समवाय में दो प्रकार के दण्ड, दो प्रकार के बन्ध, दो राशि, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के दो तारे, नारकीय और देवों की दो पल्योपम और दो

सागरोपम की स्थिति, दो भव करके मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का वर्णन है। इस में सर्वप्रथम दण्ड का वर्णन है। अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड, ये दण्ड के दो प्रकार हैं। स्वयं के शरीर की रक्षा के लिये कुटुम्ब, परिवार, समाज, देश, और राष्ट्र के पालन-पोषण के लिये जो हिंसादि रूप पाप प्रवृत्ति की जाती है, वह अर्थदण्ड है। अर्थदण्ड में आरंभ करने की भावना मुख्य नहीं होती। कर्तव्य से उत्प्रेरित होकर प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये आरम्भ किया जाता है। अनर्थदण्ड का अर्थ है–बिना किसी प्रयोजन के–निरर्थक पाप करना। अर्थ और अनर्थ दण्ड को नापने का थर्मामीटर विवेक है। कितने ही कार्य परिस्थिति-विशेष से अर्थ रूप होते हैं। परिस्थिति परिवर्तन होने पर वे ही कार्य अनर्थ रूप भी हो जाते हैं। आचार्य उमास्वाति[१९] ने अर्थ और अनर्थ शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है–जिससे उपभोग, परिभोग होता है। वह श्रावक के लिये अर्थ है और उस से भिन्न जिस में उपभोग-परिभोग नहीं होता है, वह अनर्थदण्ड है। आचार्य अभयदेव[२०] ने लिखा है कि अर्थ का अभिप्राय "प्रयोजन" है। गृहस्थ अपने खेत, घर, धान्य, धन की रक्षा या शरीर पालन प्रभृति प्रवृत्तियाँ करता है। उन सभी प्रवृत्तियों में आरम्भ के द्वारा प्राणियों का उपमर्दन होता है। वह अर्थदण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चारों शब्द एकार्थक हैं। अर्थदण्ड के विपरीत केवल प्रमाद, कुतूहल, अविवेकपूर्वक निष्प्रयोजन निरर्थक प्राणियों का विघात करना अनर्थदण्ड है। साधक अनर्थदण्ड से बचता है।

अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड के पश्चात् जीवराशि और अजीवराशि का कथन किया गया है। टीकाकार आचार्य अभयदेव[२१] ने टीका में प्रस्तुत विषय को प्रज्ञापना सूत्र से उसके भेद और प्रभेदों को समझने का सूचन किया है। हम यहाँ पर उतने विस्तार में न जाकर पाठकों को वह स्थल देखने का संकेत करते हुए यह बताना चाहेंगे कि भगवान् महावीर के समय जीव और अजीव तत्त्वों की संख्या के सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद थे। एक ओर उपनिषिदों का अभिमत था कि सम्पूर्ण विश्व एक ही तत्त्व का परिणाम है तो दूसरी ओर सांख्य के अभिमत से जीव और अजीव एक हैं। बौद्धों का मन्तव्य है कि अनेक चित्त और अनेक रूप हैं। इस दृष्टि से जैन दर्शन का मन्तव्य आवश्यक था। अन्य दर्शनों में केवल संख्या का निरूपण है। जब कि प्रज्ञापना सूत्र में अनेक दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। जिस तरह से जीवों पर चिन्तन है, उसी तरह से अजीव के सम्बन्ध में भी चिन्तन है। यहाँ तो केवल अति संक्षेप में सूचना दी गई है।[२२]

बन्ध के दो प्रकार बताये हैं, रागबन्ध और द्वेषबन्ध। यह बन्ध केवल मोहनीय कर्म को लक्ष्य में लेकर के बताया गया है। राग में माया और लोभ का समावेश है और द्वेष में क्रोध और मान का समावेश है। अंगुत्तरनिकाय में तीन प्रकार का समुदय माना है लोभ से, द्वेष से और मोह से। इन सभी में मोह अधिक प्रबल है।[२३] इस प्रकार दो राशि का उल्लेख है। यह विशाल संसार दो तत्त्वों से निर्मित है। सृष्टि

का यह विशाल रथ उन्हीं दो चक्रों पर चल रहा है। एक तत्व है चेतन और दूसरा तत्त्व है जड़। जीव और अजीव ये दोनों संसार नाटक के सूत्रधार हैं। वस्तुतः इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया ही संसार है। जिस दिन ये दोनों साथी बिछुड़ जाते हैं, उसी दिन संसार समाप्त हो जाता है। एक जीव की दृष्टि से परस्पर सम्बन्ध का विच्छेद होता है पर सभी जीवों की अपेक्षा से नहीं। अतः राशि के दो प्रकार बताये हैं। द्वितीय स्थान में दो की संख्या को लेकर चिन्तन है। इसमें से बहुत सारे सूत्र ज्यों के त्यों स्थानांग में भी प्राप्त होते हैं।

तृतीय समवाय : विश्लेषण

तृतीय स्थान में तीन दण्ड, तीन गुप्ति, तीन शल्य, तीन गौरव, तीन विराधना, मृगशिर पुष्य आदि के तीन तारे, नरक और देवों की तीन पल्योपम, व तीन सागरोपम की स्थिति तथा कितने ही भवसिद्धिक जीव तीन भव करके मुक्त होंगे, आदि का निरूपण है।

प्रस्तुत समवाय में तीन दण्ड का उल्लेख है। दुष्प्रवृत्ति में संलग्न मन, वचन और काय, ये तीन दण्ड हैं। इन से चारित्र रूप ऐश्वर्य का तिरस्कार होता है। आत्मा दण्डित होता है। इसलिये इन्हें दण्ड कहा है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति जो संसाराभिमुख है, वह दण्ड है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को अपने मार्ग में स्थापित करना गुप्ति है।[२४] गुप्ति के तीन प्रकार हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मनोगुप्ति का अर्थ है संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त मन को रोकना।[२५] अपर शब्दों में कहा जाये तो राग-द्वेष आदि कषायों से मन को निवृत्त करना मनोगुप्ति है। असत्य भाषण आदि से निवृत्त होना या मौन धारण करना, वचनगुप्ति है।[२६] असत्य, कठोर, आत्मश्लाघी वचनों से दूसरों के मन का घात होता है अतः ऐसे वचन का निरोध करना चाहिए।[२७] अज्ञानवश शारीरिक क्रियाओं द्वारा बहुत से जीवों का घात होता है। अतः अकुशल कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कायगुप्ति है।[२८]

साधना की प्रगति में शल्य बाधक है। शल्य अन्दर ही अन्दर कष्ट देता है। वैसे ही माया, निदान और मिथ्यादर्शन ये साधना को विकृत करते हैं। साधक को इन से बचना चाहिये। अभिमान और लोभ से आत्मा भारी बनता है और अपने को गौरवशाली मानता है। पर वह अभिमान से उत्तप्त हुए चित्त की एक विकृत स्थिति है। साधना की दृष्टि से वह गौरव नहीं, रौरव है। इसलिये साधक को तीनों प्रकार के गौरव से बचने का संकेत किया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र–ये तीनों मोक्ष-मार्ग हैं। इन्हें रत्नत्रय भी कहा गया है। यहाँ पर ज्ञान से सम्यग्ज्ञान को लिया गया है जो सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। जीव मिथ्याज्ञान के कारण अपने स्वरूप को विस्मृत होकर, पर द्रव्य में आत्म बुद्धि करता है। उस का समस्त क्रियाकलाप शरीराश्रित होता है।

लौकिक यश, लाभ आदि की दृष्टि से वह धर्म का आचरण करता है। उस में स्व और पर का विवेक नहीं होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन द्वारा साधक को स्व और पर का यथार्थ परिज्ञान हो जाता है।[२९] वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय–इन तीन दोषों को दूर कर आत्म-स्वरूप को जानता है।[३०] आत्मस्वरूप को जानना ही निश्चय दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।[३१]

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्व के प्रति श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से यथार्थ, अयथार्थ का बोध उत्पन्न होता है। रागादि कषाय परिणामों के परिमार्जन के लिये अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का पालन "सम्यग्-चारित्र" है। इन तीनों की विराधना करने से साधक साधना से च्युत होता है। इस प्रकार तृतीय स्थान में तीन संख्या को लेकर अनेक तथ्य उद्घाटित किये गये हैं।

चतुर्थ समवाय : विश्लेषण

चतुर्थ स्थानक समवाय में चार कषाय, चार ध्यान, चार विकथाएं, चार संज्ञाएं, चार प्रकार के बन्ध, अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा के तारों, नारकीय व देवों की चार पल्योपम व सागरोपम स्थिति का उल्लेख करते हुए कितने ही जीवों के चार भव कर मोक्ष जाने का वर्णन है।

आत्मा के परिणामों को जो कलुषित करता है, वह कषाय है। कषाय से आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नष्ट होता है। कषाय आत्मधन को लूटने वाले तस्कर हैं। वे आत्मा में छिपे हुए दोष हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय के चार प्रकार हैं। इन्हें चाण्डाल चौकड़ी कहा जाता है। कषाय से मुक्त होना ही सच्ची मुक्ति है। **'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।'** कषाय के अनेक भेद-प्रभेद हैं। कषाय कर्मजनित और साथ ही कर्मजनक वैकारिक प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति का परित्याग कर आत्मस्वरूप में रमण करना, यह साधक का लक्ष्य होना चाहिये।

कषाय के पश्चात् चार ध्यान का उल्लेख है। ध्यान का अर्थ है–चित्त को किसी विषय पर केन्द्रित करना।[३२] चित्त को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करना अत्यन्त कठिन है। वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक एकाग्र नहीं रह सकता।[३३] आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है–जब साधक ध्यान में तन्मय हो जाता है तब उस में द्वैतज्ञान नहीं रहता। समस्त राग-द्वेष से ऊपर उठकर आत्मा स्व-रूप में ही निमग्न हो जाता है।[३४] उसे तत्त्वानुशासन[३५] में समरसी भाव और ज्ञानार्णव[३६] में सवीर्य ध्यान कहा है। ध्यान के लिये मुख्य रूप से तीन बातें अपेक्षित हैं–ध्याता, ध्येय और ध्यान।[३७] ध्यान करने वाला ध्याता है। जिसका ध्यान किया जाता है, वह ध्येय है और ध्याता का ध्येय में स्थिर हो जाना "ध्यान" है।[३८] ध्यान-साधना के लिये परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण और इन्द्रिय-विजय करना आवश्यक है। स्थानांग[३९], भगवती[४०], आवश्यकनिर्युक्ति[४१], आदि में समवायांग की तरह ही–आर्त, रौद्र, धर्म

और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं। इनमें प्रारम्भ के दो ध्यान अप्रशस्त हैं, और अन्तिम दो प्रशस्त हैं। योगग्रन्थों में अन्य दृष्टियों से ध्यान के भेद-प्रभेदों की चर्चा है। पर हम यहाँ उन भेद-प्रभेदों की चर्चा न कर आगम में आये हुए चार ध्यानों पर ही संक्षेप में चिन्तन करेंगे। आर्ति नाम दुःख या पीड़ा का है। उसमें से जो उत्पन्न हो वह आर्त है अर्थात् दुःख के निमित्त से या दुःख में होने वाला ध्यान **आर्त्तध्यान** है।[४२] यह ध्यान मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ वस्तु के संयोग से होता है। राग भाव से मन में एक उन्मत्तता उत्पन्न होती है। फलतः अवांछनीय वस्तु की उपलब्धि और वांछनीय की अनुपलब्धि होने पर जीव दुःखी होता है। अनिष्ट संयोग, इष्ट-वियोग, रोग चिन्ता, या रोगार्त और भोगार्त्त ये चार आर्त्तध्यान के भेद[४३] हैं। इस ध्यान से जीव तिर्यञ्च गति को प्राप्त होता है। ऐसे ध्यानी का मन आत्मा से हटकर सांसारिक वस्तुओं में केन्द्रित होता है। **रौद्रध्यान** वह है जिसमें जीव स्वभाव से सभी प्रकार के पापाचार करने में समुद्यत होता है। क्रूर अथवा कठोर भाव वाले प्राणी को रुद्र कहते हैं। वह निर्दयी बनकर क्रूर कार्यों का कर्त्ता बनता है। इसलिये उसे रौद्र ध्यान कहा है। इस ध्यान में हिंसा, झूठ, चोरी, धन रक्षा व छेदन-भेदन आदि दुष्ट प्रवृत्तियों का चिन्तन होता है। इस ध्यान के हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, संरक्षानन्द, ये चार प्रकार हैं।[४४] इसीलिये इन दोनों ध्यानों को हेय और अशुभ माना गया है। **धर्मध्यान**—आत्मविकास का प्रथम चरण है। इस ध्यान में साधक आत्मचिन्तन में प्रवृत्त होता है। ज्ञानसार[४५] में बताया गया है कि शास्त्रवाक्यों के अर्थ, धर्ममार्गणाएँ, व्रत, गुप्ति, समिति, आदि की भावनाओं का चिन्तन करना धर्मध्यान है। इस ध्यान के लिये ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य[४६] अपेक्षित है। इनसे सहज रूप से मन स्थिर हो जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने धर्मध्यान की सिद्धि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के चिन्तन पर भी बल दिया है।[४७] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण[४८] ने स्पष्ट किया है कि धर्मध्यान का सम्यग् आराधन एकान्त-शान्त स्थान में हो सकता है। ध्यान का आसन सुखकारक हो, जिससे ध्यान की मर्यादा स्थिर रह सके। यह ध्यान पद्मासन से बैठकर, खड़े होकर या लेट कर भी किया जा सकता है। मानसिक चंचलता के कारण कभी-कभी साधक का मन ध्यान में स्थिर नहीं होता। इसलिये शास्त्र में धर्मध्यान के चार आलम्बन बताये हैं।[४९] (१) **आज्ञा विचय**—सर्वज्ञ के वचनों में किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं है।[५०] इसलिये आप्त वचनों का आलम्बन लेना। यहाँ "विचय" शब्द का अर्थ "चिन्तन" है। (२) **अपायविचय**—कर्म नष्ट करने के लिये और आत्म तत्त्व की उपलब्धि के लिये चिन्तन करना। (३) **विपाकविचय**—कर्मों के शुभ-अशुभ फल के सम्बन्ध में चिन्तन करना अथवा कर्म के प्रभाव से प्रतिक्षण उदित होने वाली प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विचार करना। (४) **संस्थानविचय**—यह जगत् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त है। द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से उसमें उत्पाद और व्यय होता है। संसार के नित्य-अनित्य स्वरूप का चिन्तन होने से वैराग्य भावना

सुदृढ़ होती है, जिससे साधक आत्म-स्वरूप का अनुभव करने का प्रयत्न करता है। आचार्य हेमचन्द्र,[५१] योगीन्दुदेव,[५२] अमितगति[५३], आचार्य हरिभद्र[५४], उपाध्याय यशोविजय आदि ने धर्मध्यान के चार ध्येय बताये हैं। वे ये हैं :–(१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत। **पिण्डस्थ** ध्यान का अर्थ शरीर के विभिन्न भागों पर मन को केन्द्रित करना। पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्ववती, इन पाँच धारणाओं के माध्यम से साधक उत्तरोत्तर आत्म-केन्द्र में ध्यानस्थ होता है। चतुर्विध धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने से मन स्थिर होता है। जिससे शरीर और कर्म के सम्बन्ध को भिन्न रूप से देखा जाता है। कर्म नष्ट कर शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन इसमें होता है।

दूसरा **पदस्थ** ध्यान अर्थात् अपनी रुचि के अनुसार मन्त्राक्षर पदों का अवलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान है। इस ध्यान में मुख्य रूप से शब्द आलम्बन होता है। अक्षर पर ध्यान करने से आचार्य शुभचन्द्र[५५] ने इसे वर्णमातृका ध्यान भी कहा है। इस ध्यान में नाभि-कमल, हृदयकमल और मुखकमल की कमनीय कल्पना की जाती है। नाभिकमल में सोलह पत्रों वाले कमल पर सोलह स्वरों का ध्यान किया जाता है। हृदयकमल में कर्णिका व पत्रों सहित चौबीस दल वाले कमल की कल्पना कर उस पर क, ख, आदि पच्चीस वर्णों का ध्यान किया जाता है। उसी तरह मुख-कमल पर आठ वर्णों का ध्यान किया जाता है। मन्त्रों और वर्णों में श्रेष्ठ ध्यान 'अर्हन्' का माना गया है, जो रेफ से युक्त कला व बिन्दु से आक्रान्त अनाहत सहित-मन्त्रराज है।[५६] इस मन्त्रराज पर ध्यान किया जाता है। इनके अतिरिक्त अनेक विधियों का निरूपण योगशास्त्र व ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ है। इस ध्यान में साधक इन्द्रिय-लोलुपता से मुक्त होकर मन को अधिक विशुद्ध एवं एकाग्र बनाने का प्रयत्न करता है।

तीसरा ध्यान **रूपस्थ** है। इसमें राग-द्वेष आदि विकारों से रहित, समस्त सद्गुणों से युक्त, सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान में अर्हन्त के स्वरूप का अवलम्बन लेकर ध्यान का अभ्यास किया जाता है।[५७]

ध्यान का चौथा प्रकार **रूपातीत** ध्यान है। रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप, रंग से अतीत; निरञ्जन-निराकार ज्ञानमय आनन्द स्वरूप का स्मरण करना।[५८] इस ध्यान में ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रहता। इसलिये इस अवस्था-विशेष को आचार्य हेमचन्द्र ने समरसी भाव कहा है।[५९] इन चारों धर्मध्यान के प्रकारों में क्रमशः शरीर, अक्षर, सर्वज्ञ व निरञ्जन सिद्ध का चिन्तन किया जाता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ा जाता है। यह ध्यान सभी प्राणी नहीं कर सकते। साधक ही इस ध्यान के अधिकारी हैं। धर्मध्यान से मन में स्थैर्य, पवित्रता आ जाने से वह साधक आगे चलकर शुक्लध्यान का भी अधिकारी बन सकता है।

ध्यान का चौथा प्रकार **शुक्ल** ध्यान है। यह आत्मा की अत्यंत विशुद्ध अवस्था है। श्रुत के आधार से मन की आत्यन्तिक स्थिरता और योग का निरोध शुक्ल ध्यान है। यह ध्यान कषायों के उपशान्त होने पर होता है। यह ध्यान वही साधक कर सकता है जो समताभाव में लीन हो,[६०] और वज्र ऋषभनाराचसंहनन वाला हो।[६१] शुक्ल ध्यान के (१) पृथक्त्व-श्रुत-सविचार (२) एकत्व श्रुत अविचार (३) सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (४) उत्सन्न क्रियाप्रतिपात्ति, इन प्रकारों में योग की दृष्टि से एकाग्रता की तरतमता बतलाई गयी है।[६२] मन, वचन और काया का निरुन्धन एक साथ नहीं किया जाता। प्रथम दो प्रकार छद्मस्थ साधकों के लिये हैं और शेष दो प्रकार केवलज्ञानी के लिये।

इनका स्वरूप इस प्रकार है–

(१) **पृथक्त्व श्रुत सविचार**–इस ध्यान में किसी एक द्रव्य में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य आदि पर्यायों का चिन्तन श्रुत को आधार बनाकर किया जाता है।[६३] ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करता है, कभी शब्द का चिन्तन करता है। इसी तरह मन, वचन और काय के योगों के संक्रमण करता रहता है। एक शब्द से दूसरे शब्द पर, एक योग से दूसरे योग पर जाने के कारण ही यह ध्यान "सविचार" कहलाता है।[६४] (२) **एकत्वश्रुत अविचार**–श्रुत के आधार से अर्थ, व्यञ्जन, योग के सक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान। पहले ध्यान की तरह इसमें आलम्बन का परिवर्तन नहीं होता। एक ही पर्याय को ध्येय बनाया जाता है। इसमें समस्त कषाय शान्त हो जाते हैं और आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय को नष्ट कर केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।[६५] (३) **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति**–तेरहवें गुणस्थानवर्ती–अरिहन्त की आयु यदि केवल अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट रहती है और नाम, गोत्र, वेदनीय इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है, तब उन्हें समस्थितिक करने के लिये समुद्घात किया जाता है। उससे आयुकर्म की स्थिति के बराबर सभी कर्मों की स्थिति हो जाती है। उस के पश्चात् बादर काययोग का आलम्बन लेकर बादर मनोयोग एवं बादर वचनयोग का निरोध किया जाता है। उस के पश्चात् सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर बादर काययोग का निरोध किया जाता है। उस के बाद सूक्ष्मकाययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्ममनोयोग और सूक्ष्मवचनयोग का निरोध किया जाता है। इस अवस्था में जो ध्यान प्रक्रिया होती है, वह सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान कहलाता है।[६६] इस ध्यान में मनोयोग और वचनयोग का पूर्ण रूप से निरोध हो जाने पर भी सूक्ष्म काययोग की श्वासोच्छ्वास आदि क्रिया ही अवशेष रहती है। (४) **उत्सन्न क्रियाप्रतिपात्ति**–इस ध्यान में जो सूक्ष्म क्रियाएँ अवशिष्ट थीं, वह भी निवृत्त हो जाती हैं। पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय केवली भगवान् शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं। अघातिया कर्मों को नष्ट कर पूर्ण रूप से मुक्त हो जाते हैं।[६७]

ध्यान के पश्चात् चार विकथाओं का उल्लेख है। संयम-बाधक वार्तालाप विकथा है। धर्मकथा से निर्जरा होती है तो विकथा से कर्मबन्ध। इसलिये उसे आस्रव में स्थान दिया गया है। भाषासमिति के साधक को विकथा का वर्जन करना चाहिए।[६८] जैन परम्परा में ही नहीं, बौद्ध परम्परा में भी विकथा को तिरच्छान कथा कहा है और उनके अनेक भेद बताये हैं–राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा, अन्नकथा, पानकथा, वस्त्रकथा, मालाकथा, गन्धकथा, ज्ञातिकथा, यानकथा, ग्रामकथा, निगमकथा, नगरकथा, जनपदकथा, स्त्रीकथा आदि।[६९] प्रस्तुत समवाय में चार विकथाओं का उल्लेख है। स्थानांग[७०] में एक-एक विकथा के चार-चार प्रकार भी बताये हैं और सातवें स्थान में[७१] सात विकथाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

विकथाओं के पश्चात् चार संज्ञाओं का उल्लेख है। सामान्यतः अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। दूसरे शब्दों में आसक्ति संज्ञा है। यहाँ पर संज्ञा के चार भेदों का निरूपण है। स्थांनांग सूत्र में एक-एक संज्ञा के उत्पन्न होने के चार-चार कारण भी बताये हैं। दशवें स्थान[७२] में संज्ञा के दश प्रकार भी बताये हैं। बन्ध के चार प्रकारों के सम्बन्ध में हम पूर्व लिख ही चुके हैं। इस तरह चतुर्थ समवाय में चिन्तन की विपुल सामग्री विद्यमान है।

पांचवां समवाय : एक विश्लेषण

पांचवें समवाय में पाँच क्रिया, पाँच महाव्रत, पाँच कामगुण, पाँच आस्रवद्वार, पाँच संवरद्वार, पाँच निर्जरास्थान, पांच समिति, पांच अस्तिकाय, रोहिणी, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, धनिष्ठा नक्षत्रों के पांच-पांच तारे, नारकों और देवों की पांच पल्योपम और पाँच सागरोपम की स्थिति तथा पांच भव कर मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का उल्लेख है।

सर्वप्रथम क्रियाओं का उल्लेख है। क्रिया का अर्थ "करण" और "व्यापार" है। कर्म-बन्ध में कारण बनने वाली चेष्टाएं "क्रिया" हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मन, वचन और काया के दुष्ट व्यापार-विशेष को क्रिया कहते हैं। क्रिया कर्म-बन्ध की मूल है। वह संसार-जन्ममरण की जननी है। जिससे कर्म का आस्रव होता है, ऐसी प्रवृत्ति क्रिया कहलाती है। स्थानांग सूत्र[७३] में भी क्रिया के जीव-क्रिया, अजीव-क्रिया और फिर जीव-अजीव क्रिया के भेद-प्रभेदों की चर्चा है। यहाँ पर मुख्य रूप से पाँच क्रियाओं का उल्लेख है। प्रज्ञापना-सूत्र में[७४] पच्चीस क्रियाओं का भी वर्णन मिलता है। जिज्ञासु को वे प्रकरण देखने चाहिये। क्रियाओं से मुक्त होने के लिये महाव्रतों का निरूपण है।

महाव्रत श्रमणाचार का मूल है। आगम साहित्य में महाव्रतों के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। आगमों में महाव्रतों की तीन परम्पराएं मिलती हैं। आचारांग[७५] में अहिंसा, सत्य, बहिद्धादान इन तीन महाव्रतों का उल्लेख प्राप्त होता

है। स्थानांग,[७६] उत्तराध्ययन[७७] और दीघनिकाय[७८] में चार याम का वर्णन है। वे ये हैं–अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिद्धादान। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर चातुर्याम का उल्लेख हुआ है। प्रश्नव्याकरण[७९] के संवर प्रकरण में महाव्रतों की चर्चा है। दशवैकालिक सूत्र[८०] में प्रत्येक महाव्रत का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। भगवती सूत्र[८१] में प्रत्याख्यान के स्वरूप को बताने के लिये महाव्रतों का उल्लेख है। तत्वार्थसूत्र[८२] और उस के व्याख्यासाहित्य में भी महाव्रतों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जिसे जैन साहित्य में महाव्रत कहा है उसे ही बौद्ध साहित्य[८३] में दश कुशलधर्म कहा है। उन्होंने दश कुशल धर्मों का समावेश इस प्रकार किया है–

महाव्रत	कुशलधर्म
(१) अहिंसा	(१) प्राणातिपात एवं (९) व्यापाद से विरति
(२) सत्य	(४) मृषावाद (५) पिशुनवचन (६) परुषवचन (७) संप्रलाप से विरति
(३) अचौर्य	(२) अदत्तादान से विरति
(४) ब्रह्मचर्य	(३) काम में मिथ्याचार से विरति
(५) अपरिग्रह	(८) अमिथ्या विरति।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पांच महाव्रत असंयम के स्रोत को रोककर संयम के द्वार को उद्घाटित करते हैं। हिंसादि पापों का जीवन भर के लिये तीन करण और तीन योग से त्याग किया जाता है। महाव्रतों में सावद्य योगों का पूर्ण रूप से त्याग होता है। महाव्रतों का पालन करना तीक्ष्ण तलवार की धार पर चलने के सदृश है। जो संयमी होता है वह इन्द्रियों के कामगुणों से बचता है। आस्रवद्वारों का निरोध कर संवर और निर्जरा से कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न कता है।

इस के पश्चात् शास्त्रकार ने पांच समितियों का उल्लेख किया है। सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहा गया है।[८४] मुमुक्षुओं की शुभ योगों में प्रवृत्ति होती है। उसे भी समिति कहा है।[८५] ईर्यासमिति आदि पांच को इसीलिये समिति संज्ञा दी है। उसके पश्चात् पंच अस्तिकाय का निरूपण किया गया है। पंचास्तिकाय जैन-दर्शन की अपनी देन है। किसी भी दर्शन ने गति और स्थिति के माध्यम के रूप में भिन्न द्रव्य नहीं माना है। वैशेषिक दर्शन ने उत्क्षेपण आदि को द्रव्य न मानकर कर्म माना है। जैनदर्शन ने गति के लिये धर्मास्तिकाय और स्थिति के लिये अधर्मास्तिकाय स्वतन्त्र द्रव्य माने हैं। जैनदर्शन की आकाश विषयक मान्यता भी अन्य दर्शनों से विशेषता लिये हुए है। अन्य दर्शनों ने लोकाकाश को अवश्य माना है पर अलोकाकाश को नहीं माना। अलोकाकाश की मान्यता जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। पुद्गल द्रव्य की मान्यता

भी विलक्षणता लिये हुए है। वैशेषिक आदि दर्शन पृथ्वी आदि द्रव्यों के पृथक्-पृथक् जातीय परमाणु मानते हैं। किन्तु जैनदर्शन पृथ्वी आदि का एक पुद्गल द्रव्य में ही समावेश करता है। प्रत्येक पुद्गल परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध और रूप रहते हैं। इसी प्रकार इनकी पृथक्-पृथक् जातियां नहीं, अपितु एक ही जाति है। पृथ्वी का परमाणु पानी के रूप में बदल सकता है और पानी का परमाणु अग्नि में परिणत हो सकता है। साथ ही जैनदर्शन ने शब्द को भी पौद्गलिक माना है। जीव के सम्बन्ध में भी जैनदर्शन की अपनी विशेष मान्यता है। वह संसारी आत्मा को स्वदेह-परिमाण मानता है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन ने आत्मा को स्वदेह-परिमाण नहीं माना है।

इस तरह पाँचवें समवाय में जैनदर्शन सम्बन्धी विविध पहलुओं पर चिन्तन किया गया है।

छठा समवाय : एक विश्लेषण

छठे समवाय में छह लेश्या, षट् जीवनिकाय, छह बाह्य तप, छह आभ्यन्तर तप, छह छाद्मस्थिक समुद्घात, छह अर्थावग्रह, कृत्तिका और आश्लेषा नक्षत्रों के छह-छह तारे, नारक व देवों की छह पल्योपम तथा छह सागरोपम की स्थिति का वर्णन किया गया है और कितने ही जीव छह भव ग्रहण करके मुक्त होंगे, यह बतलाया गया है।

इस समवाय में सर्वप्रथम लेश्या का उल्लेख है। स्थानांग,[९६] उत्तराध्ययन[९७] और प्रज्ञापना[९८] में लेश्या के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। आगमयुग के पश्चात दार्शनिक युग के साहित्य में भी लेश्या के सम्बन्ध में व्यापक रूप से चिन्तन किया गया है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक भी आभामण्डल के रूप में इस पर चिन्तन कर रहे हैं। सामान्य रूप में मन आदि योगों से अनुरञ्जित तथा विशेष रूप से कषायानुरञ्जित आत्म-परिणामों से जीव एक विशिष्ट पर्यावरण समुत्पन्न करता है। वह पर्यावरण ही लेश्या है। उत्तराध्ययन में लेश्या के पूर्व कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् कर्मलेश्या। कर्म-बन्ध के हेतु रागादिभाव कर्मलेश्या हैं। यों लेश्याएं भाव और द्रव्य के रूप से दो प्रकार की हैं। कितने ही आचार्य कषायानुरञ्जित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस दृष्टि से लेश्या छद्मस्थ व्यक्ति को ही हो सकती है पर शुक्ल लेश्या तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली में भी होती है। अतः कोई-कोई योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। कषाय से उस में तीव्रता आदि का सन्निवेश होता है। आचार्य जिनदास गणि महत्तर[९९] ने स्पष्ट कहा है कि लेश्याओं के द्वारा आत्मा पर कर्मों का संश्लेष होता है। द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध में चिन्तकों के विभिन्न मत रहे हैं। कितने ही विज्ञों के मत से लेश्या द्रव्य कर्म-परमाणु से बना हुआ है पर वह आठ कर्म-अणुओं से भिन्न है। दूसरे विज्ञों के मत से लेश्या द्रव्य वध्यमान कर्म प्रवाह रूप है। तीसरे अभिमत के अनुसार वह स्वतन्त्र द्रव्य है।

प्रस्तुत समवाय में छह बाह्य तप और छह आभ्यन्तर तपों का भी उल्लेख है। प्रथम बाह्य तप में **अनशन** तप है, जो अन्य तपों से अधिक कठोर है। अनशन से शारीरिक, मानसिक विशुद्धि होती है। यह अग्निस्नान की तरह कर्म-मल को दूर कर आत्मा रूपी स्वर्ण को चमकाता है। दूसरा बाह्यतप **ऊनोदरी** है। उसे अवमौदर्य भी कहा है। द्रव्य ऊनोदरी में आहार की मात्रा कम की जाती है और भाव ऊनोदरी में कषाय की मात्रा कम की जाती है द्रव्य उनोदरी से शरीर स्वस्थ रहता है और भाव ऊनोदरी से आन्तरिक गुणों का विकास होता है। विविध प्रकार के अभिग्रह करके आहार की गवेषणा करना भिक्षाचरी है। **भिक्षाचरी** के अनेक भेद-प्रभेदों का उल्लेख है।[९०] भिक्षु को अनेक दोषों को टाल कर भिक्षा ग्रहण करनी होती है।[९१] जिस से भोजन में प्रीति उत्पन्न होती हो, वह रस है। मधुर आदि रसों से भोजन में सरसता आती है। रस उत्तेजना उत्पन्न करने वाले होते हैं। साधक आवश्यकतानुसार आहार ग्रहण करता है किन्तु स्वाद के लिये नहीं। स्वाद के लिये आहार को चूसना, चबाना दोष है। उन रस के दोषों से बचना **रसपरित्याग** है। शरीर को कष्ट देना **कायक्लेश** है। साधक आत्मा और शरीर को पृथक् मानता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है। साधक इस प्रकार की तत्वबुद्धि से दुःख और क्लेश को देने वाली शरीर की ममता त्याग करता है।[९२] स्थानांग में कायोत्सर्ग करना, उत्कटुक आसन से ध्यान करना, प्रतिमा धारण करना आदि कायक्लेश के अनेक प्रकार बताये हैं।[९३] यों कायक्लेश के प्रकारान्तर से चौदह भेद भी बताये हैं।[९४] परभाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया **प्रतिसंलीनता** है। भगवती में[९५] इसके इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योगप्रतिसंलीनता और विविक्त शयनासनसेवना, ये चार भेद किये हैं। ये छह बाह्यतप हैं।

छह आभ्यन्तर तपों में प्रथम **प्रायश्चित्त** है। आचार्य अकलंक के अनुसार अपराध का नाम "प्रायः" है और "चित्त" का अर्थ शोधन है। जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो, वह प्रायश्चित्त है।[९७] "प्रायश्चित्त" से पाप का छेदन होता है। वह पाप को दूर करता है।[९८] प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रायश्चित्त स्वेच्छा से ग्रहण किया जाता है। दण्ड में पाप के प्रति ग्लानि नहीं होती, वह विवशता से लिया जाता है। स्थानांग में प्रायश्चित्त के दश प्रकार बताये हैं। **विनय** दूसरा आभ्यन्तर तप है। यह आत्मिक गुण है। विनय शब्द तीन अर्थों को अपने में समेटे हुए है। अनुशासन, आत्मसंयम-सदाचार, नम्रता। विनय से अष्ट कर्म दूर होते हैं। प्रवचन-सारोद्धार में लिखा है कि क्लेश समुत्पन्न करने वाले अष्टकर्म-शत्रु को जो दूर करता है वह विनय है।[९९] भगवती[१००] स्थानांग[१०१] औपपातिक[१०२] में विनय के ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, मनोविनय, वचनविनय, कायविनय, लोकोपचार विनय, ये सात प्रकार बताये हैं। विनय चापलूसी नहीं, सद्गुणों के प्रति सहज सम्मान है। **वैयावृत्त्य** तप

धर्मसाधना में प्रवृत्ति करने वाली वस्तुओं से सेवा करना है। भगवती[१०३] में वैयावृत्त्य के दश प्रकार बताये हैं। सत् शास्त्रों का विधि सहित अध्ययन करना **स्वाध्याय** तप है।[१०४] आत्मचिन्तन, मनन भी स्वाध्याय है। शरीर के लिये भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार बुद्धि के विकास के लिये अध्ययन आवश्यक है। वैदिक महर्षियों ने[१०५] भी **'तपो हि स्वाध्यायः'** कहा है और यह प्रेरणा दी है कि स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो।[१०६] आचार्य पतंजलि कहते हैं–स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होने लगता है। स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ये पाँच प्रकार बताये हैं।[१०७] मन की एकाग्र अवस्था ध्यान है। ध्यान में आत्मा परवस्तु से हटकर स्व-स्वरूप में लीन होता है। **व्युत्सर्ग**–विशिष्ट उत्सर्ग व्युत्सर्ग है। आचार्य अकलंक[१०८] ने व्युत्सर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है–निःसंगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग, व्युत्सर्ग है। आत्मसाधना के लिये अपने आप को उत्सर्ग करने की विधि व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के गणव्युत्सर्ग, शरीरव्युत्सर्ग उपधिव्युत्सर्ग और भक्तपान व्युत्सर्ग ये चार भेद हैं।[१०९] शरीर-व्युत्सर्ग का नाम ही कायोत्सर्ग है। भगवान् महावीर ने साधक को **'अभिक्खणं काउस्सग्गकारी'** अभीक्ष्ण–पुनः पुनः कायोत्सर्ग करने वाला कहा है। जो साधक कायोत्सर्ग में सिद्ध हो जाता है, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप में सिद्ध हो जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा शास्त्रकार ने जैन धर्म के तप के स्वरूप को उजागर किया है। इस प्रकार छठे समवाय में विविध विषयों का निरूपण है।

सातवां समवाय : एक विश्लेषण

सातवें समवाय में सात प्रकार के भय, सात प्रकार के समुद्घात, भगवान् महावीर का सात हाथ ऊँचा शरीर, जम्बूद्वीप में सात वर्षधर पर्वत, सात द्वीप, बारहवें गुणस्थान में सात कर्मों का वेदन, मघा, कृतिका, अनुराधा, धनिष्ठा, नक्षत्रों के सात-सात तारे व नक्षत्र बताये हैं। नारकों और देवों की सात पल्योपम तथा सात सागरोपम की स्थिति का उल्लेख है। इस में सर्वप्रथम सात भय का वर्णन है। इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात्भय, आजीविकाभय, मरणभय और अश्लोकभय। अतीतकाल में विजातीय जीवों का भय अधिक था। पर आज वैज्ञानिक खलनायकों ने मानव के अन्तर्मानस में इतना अधिक भय का संचार कर दिया है कि बड़े-बड़े राष्ट्रनायकों के हृदय भी धड़क रहे हैं कि कब अणुबम, उद्जन बम का विस्फोट हो जाये, या तृतीय विश्वयुद्ध हो जाय। जैन आगम साहित्य में जिस तरह भयस्थान का उल्लेख हुआ है, उसी तरह बौद्ध साहित्य में भी भय-स्थानों का उल्लेख है।[११०] वहाँ जाति-जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अग्नि, उदक, राज, चोर, आत्मानुवाद–स्वयं के दुराचार का विचार, परानुवादभय–दूसरे मुझे दुराचारी कहेंगे, आदि विविध भयों के भेद बताये हैं। इस तरह सातवें स्थान में वर्णन है।

आठवां समवाय : एक विश्लेषण

आठवें समवाय में आठ मदस्थान, आठ प्रवचनमाता, वाणव्यन्तर देवों के आठ योजन ऊँचे चैत्य वृक्ष आदि, केवली समुद्घात के आठ समय, भगवान् पार्श्व के आठ गणधर, चन्द्रमा के आठ नक्षत्र, नारकों और देवों की आठ पल्योपम व सागरोपम की स्थिति व आठ भव करके मोक्ष जाने वालों का वर्णन है।

सर्वप्रथम इसमें आतिमद, कुलमद आदि मदों का वर्णन है। समवायांग की तरह स्थानांग[११२] में भी आठ मदों का उल्लेख आया है। आवश्यक-सूत्र में साधक को यह संकेत किया गया है कि आठ मद से वह निवृत्त होवे। सूत्रकृतांग[११३] में स्पष्ट निर्देश है कि अहंकार से व्यक्ति दूसरों की अवज्ञा करता है, जिस से उसे संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। भगवान् महावीर के जीव ने मरीचि के भव में जाति और कुल मद किया था। फलस्वरूप उन्हें देवानन्दा की कुक्षि में आना पड़ा। अतः मदस्थानों से बचना चाहिये। अंगुत्तरनिकाय में[११३] तीन प्रकार के मद बताये हैं–यौवन, आरोग्य और जीवितमद। मद के पश्चात् अष्ट प्रवचनमाताओं का वर्णन है। उत्तराध्ययन का चौबीसवाँ अध्ययन, प्रवचनमाता के नाम से ही विश्रुत है। भगवती सूत्र[११४] और स्थानांग[११५] में भी इन्हें प्रवचनमाता कहा है। इन अष्ट प्रवचनमाताओं में सम्पूर्ण द्वादशांगी समाविष्ट है।[११६] ये प्रवचनमाताएँ चारित्ररूपा हैं। चारित्र बिना ज्ञान, दर्शन के नहीं होता।[११७] द्वादशांगी में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तृत वर्णन है। अतः द्वादशांगी प्रवचनमाता का विराट् रूप है। लौकिक जीवन में माता की गरिमा अपूर्व है। वैसे ही यह अष्ट प्रवचनमाताएँ अध्यात्म जगत् की जगदम्बा हैं।[११८] लौकिक जीवन में माता का जितना उपकार है उससे भी अनन्त गुणित उपकार आध्यात्मिक जीवन में इन अष्ट प्रवचनमाताओं का है। इन का सविधि पालन कर साधक कर्मों से मुक्त होता है। आधुनिक इतिहासकार भगवान् पार्श्व को एक ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं।[११९] भगवान् पार्श्व के आठ प्रमुख शिष्यों के नामों का भी इस में उल्लेख हुआ है। इस तरह आठवें समवाय में चिन्तनप्रधान सामग्री का संकलन हुआ है।

नौवाँ समवाय : एक विश्लेषण

नौवें समवाय में नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, नव ब्रह्मचर्य अध्ययन, भगवान् पार्श्व नव हाथ ऊँचे थे, अभिजित नक्षत्र आदि, रत्नप्रभा, वाणव्यन्तर देवों की सौधर्म सभा नौ योजन ऊँची, दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ, नारक व देवों की नौ पल्योपम और नौ सागरोपम की स्थिति, तथा नौ भव कर के मोक्ष जाने वालों का वर्णन है।

प्रस्तुत समवाय में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का उल्लेख है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जिन उपायों और साधनों को भगवान् ने समाधि और मुक्ति कहा है, लोक भाषा में उन्हीं को बाड़ कहा है। बागवान अपने बाग में पौधों की रक्षा के लिए

कांटों की बाड़ बनाता है वैसे ही साधना के क्षेत्र में ब्रह्मचर्य रूप पौधे की रक्षा के लिए बाड़ की नितान्त आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा अपूर्व है। 'तं **बंभं भगवन्त**'[१२०]। जैसे सभी श्रमणों में तीर्थंकर श्रेष्ठ हैं, वैसे ही सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य महान् है। जिस साधक ने एक ब्रह्मचर्य की पूर्ण आराधना करली, उस ने सभी व्रतों की आराधना कर ली। एक विद्वान् ने "**बस्तीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम्**" लिखा है। जननेन्द्रिय, इन्द्रियसमूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। ब्रह्म शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं–वीर्य, आत्मा और विद्या। चर्य शब्द के भी तीन अर्थ हैं–चर्या, रक्षण और रमण। इस तरह ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं। ब्रह्मचर्य से आत्म-स्वरूप में लीन बना जाता है। आत्म-स्वरूप में लीन होकर ज्ञानार्जन किया जाता है। ब्रह्मचर्य से आत्मशुद्धि होती है। आचार्य पतंजलि ने लिखा है–**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां आत्मलाभः**[१२१]। ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करने से अपूर्व मानसिक शक्ति और शारीरबल प्राप्त होता है। अथर्ववेद[१२२] के अनुसार ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की प्राप्ति होती है। इस तरह आत्मिक, मानसिक और शारीरिक तीनों प्रकार के विकास ब्रह्मचर्य से होते हैं। ब्रह्मचर्य के समाधिस्थान और असमाधिस्थान का सुन्दर वर्णन उत्तराध्ययन[१२३] में है और बौद्ध ग्रन्थों में भी इन से मिलता-जुलता वर्णन[१२४] है। यह वर्णन ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। भगवान् पार्श्व का शरीर नौ हाथ ऊँचा था। यह ऐतिहासिक वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है। इस तरह नौवें समवाय में विषयों का निरूपण है।

दशवां समवाय : एक विश्लेषण

दशवें समवाय में श्रमण के दश धर्म, चित्तसमाधि के दश स्थान, सुमेरु पर्वत मूल में दश हजार योजन विष्कंभ वाला है, भगवान् अरिष्टनेमि, कृष्ण वासुदेव, बलदेव दश धनुष ऊँचे थे, दश ज्ञानवृद्धिकारक नक्षत्र, दश प्रकार के कल्पवृक्ष, नारकों व देवों की दश हजार, दश पल्योपम व दश सागरोपम की स्थिति और दश भव ग्रहण कर मोक्ष जाने वाले जीवों का कथन है।

प्रस्तुत समवाय में सर्वप्रथम श्रमणधर्म का उल्लेख है। केवल वेश-परिवर्तन से कोई श्रमण नहीं बनता। श्रमण बनता है सद्गुणों को धारण करने से। यहाँ शास्त्रकार ने श्रमण के वास्तविक जीवन का उल्लेख किया है। श्रमण का जीवन इन दशविध सद्गुणों की सुवास से सुवासित होना चाहिये। जो साधक इन धर्मों को धारण करता है उसी का चित्त समाधि को प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर दश प्रकार की चित्त-समाधि का उल्लेख हुआ है। दशाश्रुतस्कन्ध[१२५] में भी समाधिस्थानों का उल्लेख हुआ है। जिस से मानसिक स्वस्थता का अनुभव हो, वह समाधि है और जिस से मन में खिन्नता का अनुभव हो, वह असमाधि है। यहाँ दश समाधिस्थान बताये हैं तो दशवैकालिक[१२६] में चार समाधिस्थान कहे गए हैं–विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपःसमाधि और

आचारसमाधि। यहाँ जो समाधि के दश भेद हैं उन का समावेश आचारसमाधि में हो सकता है। सूत्रकृतांगसूत्र[१२७] के समाधि नामक अध्ययन में निर्युक्तिकार भद्रबाहु[१२८] ने संक्षेप में दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्र, ये समाधि बतायी हैं। समाधि शब्द बौद्ध-परम्परा में भी अनेक बार व्यवहृत हुआ है। वहाँ समाधि का अर्थ "चित्त की एकाग्रता" अर्थात् चित्त को एक आलम्बन में स्थापित करना है।[१२९] बुद्ध के अष्टांग मार्ग में समाधि आठवाँ मार्ग[१३०] है। योग-परम्परा के ग्रन्थों में समाधि का विस्तार से निरूपण हुआ है। आचार्य पतंजलि[१३१] ने तृतीय विभूति पाद में ध्यान, धारणा के साथ समाधि का उल्लेख किया है। अष्टांग योग[१३२] में समाधि अन्तिम है। तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग में लिया है। क्रियायोग से इन्द्रियों का दमन होता है। अभ्यास और वैराग्य के सतत अभ्यास से साधक समाधियोग को प्राप्त करता है। समाधिशतक आचार्य पूज्यपाद[१३३] की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उस में ध्यान और समाधि के द्वारा आत्मतत्त्व को पहचानने के उपाय हैं। इस तरह दशवें समवाय में महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन है।

ग्यारहवाँ समवाय : एक अनुशीलन

ग्यारहवें समवाय में ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ, भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर, मूल नक्षत्र के ग्यारह तारे, ग्रैवेयक विमान तथा नारकों व देवों की ग्यारह पल्योपम व ग्यारह सागरोपम की स्थिति तथा ग्यारह भव कर मोक्ष में जाने वालों का वर्णन है।

प्रस्तुत समवाय में सर्वप्रथम श्रावक-प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा-विशेष, व्रत-विशेष, तप-विशेष, और अभिग्रह-विशेष[१३४]। श्रावक द्वादश व्रतों को ग्रहण करने के पश्चात् प्रतिमाओं को धारण करता है। प्रतिमाओं की संख्या, क्रम, व नामों के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में स्वल्प अन्तर दिखायी देता है। पर वह अन्तर नगण्य है। समवायांग की तरह उपासकदशांग[१३५] व दशाश्रुतस्कन्ध[१३६] में भी इनके नाम मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं–१ दर्शन, २ व्रत, ३ सामायिक, ४ पौषधोपवास, ५ नियम, ६ ब्रह्मचर्य, ७ सचित्त-त्याग, ८ आरम्भ त्याग, ९ प्रेष्य परित्याग, १० उद्दिष्ट त्याग और ११ श्रमणभूत। आचार्य हरिभद्र[१३७] ने पाँचवीं प्रतिमा का नियम के स्थान पर केवल 'स्थान' का उल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा के वसुनन्दी श्रावकाचार[१३८] प्रभृति ग्रन्थों में दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग एवं उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है। स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा[१३९] में सम्यग्दृष्टि नामक एक और प्रतिमा मिलाकर बारह प्रतिमाओं का उल्लेख है। दोनों ही परम्पराओं में प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम एक सदृश हैं। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवां है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में

रात्रिभुक्तित्याग को एक स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा–नियम में उसका समावेश हो जाता है। दिगम्बर परम्परा में अनुमति-त्याग का दशवीं प्रतिमा के रूप में उल्लेख है, श्वेताम्बर परम्परा में उद्दिष्ट त्याग में इसका समावेश हो जाता है। क्योंकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्ट भक्त ग्रहण न करने के साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता। श्वेताम्बर परम्परा में जो श्रमणभूत प्रतिमा है, उसे दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा कहा है। क्योंकि इस में श्रावक का आचार श्रमण के सदृश होता है।

चिन्तनीय है कि आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में व्रत और उसके अतिचारों का निरूपण किया है। पर उन्होंने प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तत्त्वार्थ सूत्र के सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर टीकाकारों ने प्रतिमाओं का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी तरह दिगम्बर परम्परा के पूज्यपाद[१४०] अकलंक,[१४१] विद्यानन्दी[१४२], शिवकोटि[१४३], रविषेण[१४४], जटासिंह नन्दी,[१४५] जिनसेन[१४६] पद्मनन्दी[१४७] देवसेन[१४८], अमृतचन्द[१४९] आदि ने श्रावकों के व्रतों के सम्बन्ध में अवश्य लिखा है, पर प्रतिमाओं के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। दूसरी परम्परा ऐसे आचार्यों की है जिन्होंने केवल प्रतिमाओं का उल्लेख ही नहीं किया है किन्तु उनके स्वरूप का विस्तार से विवेचन भी किया है। उनमें आचार्य समन्तभद्र,[१५०] सोमदेव,[१५१] अमितगति[१५२], वसुनन्दी,[१५३] पण्डित आशाधर[१५४], मेधावी[१५५], सकलकीर्ति[१५६] आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

जिस श्रावक को नवतत्त्व की अच्छी तरह से जानकारी हो, वह प्रतिमा धारण कर सकता है। नवतत्त्व की बिना जानकारी के प्रतिमाओं का सही पालन नहीं हो सकता। कितने ही विचारकों का यह अभिमत है कि प्रथम प्रतिमा में एक दिन उपवास और दूसरे दिन पारणा, द्वितीय प्रतिमा में बेले-बेले पारणा इसी तरह तेले-तेले, चोले-चोले से लेकर ग्यारह तक तप कर पारणा किया जाये। पर उन विचारकों का कथन किसी आगम और परवर्ती ग्रन्थों से प्रामाणित नहीं है। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द आदि श्रावकों ने प्रतिमाओं के आराधन के समय तप अवश्य किया था। पर इतना ही तप करना चाहिये, इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। कितने ही विचारक यह भी मानते हैं कि वर्तमान में कोई भी श्रावक प्रतिमाओं की आराधना नहीं कर सकता। जैसे भिक्षु प्रतिमाओं का विच्छेद हो गया वैसे ही श्रावक प्रतिमाओं का विच्छेद हो गया है। उन विचारकों की बात चिन्तनीय है। प्रतिमाओं के साथ अनशन तप की अनिवार्य शर्त ही संभवतः इस विचार का आधार हो। दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रावक-प्रतिमाओं का पालन यावज्जीवन किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में उनकी कालमर्यादा एक, दो यावत् ग्यारह मास की नियत है। दिगम्बर परम्परा में आज भी प्रतिमाधारी श्रावक हैं।

इस तरह ग्यारहवें समवाय में विविध विषयों पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

बारहवां समवाय : एक अनुशीलन

बारहवें समवाय में बारह भिक्षु प्रतिमाएँ,[१५७] बारह संभोग, कृतिकर्म के बारह आवर्त्त, विजया राजधानी का बारह लाख योजन का आयाम विष्कम्भ बताया गया है। बलदेव राम (श्रीकृष्ण के बड़े भाई) की उम्र बारह सौ वर्ष की बतायी है। रात्रि-मान तथा सर्वार्थसिद्ध विमान के ऊपर ईषत् प्राग्भार पृथ्वी तथा नारकीय और देवों की तरह बारह पल्योपम व बारह सागर की स्थिति व बारह भव करके मोक्ष जाने वाले जीवों का उल्लेख है।

प्रस्तुत समवाय में सर्वप्रथम बारह भिक्षुप्रतिमाओं का उल्लेख है। यों स्थानांगसूत्र[१५८] में अनेक दृष्टियों से प्रतिमाओं के उल्लेख हुए हैं–जैसे समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा। समाधि प्रतिमा के भी दो भेद किये हैं–श्रुत समाधि और चारित्र समाधि। उपधान प्रतिमा में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। इसी तरह विवेकप्रतिमा और व्युत्सर्गप्रतिमा का भी उल्लेख हुआ है। भद्रा, सुभद्रा प्रतिमाओं का भी वर्णन है। महाभद्रा, सर्वतोभद्रा विविध प्रतिमाओं के उल्लेख हैं और उनके विविध भेद-प्रभेद हैं। परन्तु यहाँ पर भिक्षु की जो बारह प्रतिमाएँ बतायी हैं, उन्हें विशिष्ट संहनन एवं श्रुत के धारी भिक्षु ही धारण कर सकते हैं।

संभोग शब्द का प्रयोग यहाँ पारिभाषिक अर्थ में समान समाचारीवाले श्रमणों का साथ मिलकर खान-पान, वस्त्र-पात्र, आदान-प्रदान, दीक्षा-पर्याय के अनुसार विनय-वैयावृत्त्य करना, संभोग है। प्रस्तुत समवाय में संभोग सम्बन्धी जो दो गाथाएं दी गयी हैं वे निशीथ भाष्य[१५९] में प्राप्त होती हैं। उन का वहाँ पर विस्तार से विवेचन किया गया है। संभोग के बारह प्रकारों में प्रथम प्रकार है–उपधि। वस्त्र-पात्र रूप उपधि जब तक विशुद्ध रूप से ली जाती है, वहाँ तक सांभोगिक श्रमणों के साथ उस का सांभोगिक सम्बन्ध रह सकता है। यदि वह दोषयुक्त ग्रहण करता है और कहने पर उसका प्रायश्चित्त लेता है, तो संभोगार्ह है। तीन बार भूल करने तक वह संभोगार्ह रहता है। यदि चतुर्थ बार ग्रहण करता है तो उसे समुदाय से पृथक् करना चाहिये, भले ही उसने प्रायश्चित्त लिया हो। उसी प्रकार समुदाय से जो पृथक् हो, ऐसे विसंभोगिक पार्श्वस्थ या संयति के साथ शुद्ध या अशुद्ध उपधि की एषणा करने वाले को तीन बार उसे प्रायश्चित्त दिया जा सकता है, उससे आगे उसे विसंभोगार्ह गिनना चाहिए। इसी प्रकार उपधि के ग्रहण की तरह उपधि के परिकर्म और परिभोग के सम्बन्ध में भी सांभोगिक और विसांभोगिक व्यवस्था समझनी चाहिये। दूसरा संभोग श्रुत है। सांभोगिक या दूसरे गच्छ से उपसंपन्न हुए श्रमण को विधिपूर्वक जो वाचना दी जाये, उसकी परिगणना शुद्ध में होती है। जो श्रुत की वाचना अविधिपूर्वक साम्भोगिक या उपसंपन्न या अनुपसंपन्न आदि को देता हो तो तीन बार उसे क्षमा दी जा सकती है। उस के पश्चात यदि वह प्रायश्चित्त भी लेता है तो भी उसे विसंभोगार्ह

ही समझना चाहिये। जब तक श्रमण निर्दोष भक्तपान ग्रहण करने की मर्यादा का पालन करता है, तब तक वह सांभोगिक है। उपधि की भाँति ही इस की भी व्यवस्था है। उपधि में परिकर्म और परिभोग है तो यहाँ पर भोजन और दान है। चतुर्थ संभोग का नाम अंजलिप्रग्रह है। सांभोगिक और संविग्न असंभोगियों के साथ हाथ जोड़ कर नमस्कार करना उचित है पर पार्श्वस्थ को इस प्रकार करना विहित नहीं है। इस प्रकार करने वाले को तीन बार क्षमा किया जा सकता है। दान, निकाचना, अभ्युत्थान, कृतिकर्म, वैयावृत्त्य करण, समवसरण, संनिषद्या कथाप्रबन्ध आदि अन्य संभोग शब्दों की व्याख्या विवेचन में सम्पादक ने अच्छी की है। अतः मूल सूत्र का अवलोकन करें।

इस के आगे **कृतिकर्म** के बारह आवर्त्त बताये गये हैं। किन्तु विवेचन में जैसा चाहिये वैसा विषय को स्पष्ट नहीं किया जा सका है प्रस्तुत गाथा आवश्यकनिर्युक्ति[१६०] में इसी प्रकार आयी है, निर्युक्ति में विषय को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया गया है और कहा गया है कि पच्चीस आवश्यक से परिशुद्ध यदि वन्दना की जाये तो वंदनकर्त्ता परिनिर्वाण को प्राप्त होता है या विमानवासी देव होता है। सद्गुरु की वन्दना **"इच्छामि खमासमणो" "वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह, मे मिउग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेणं भे दिवसो। वइक्कंतो ? जत्ता भे, जवणिज्जं च भे ?"** के पाठ से दो बार की जाती है। 'इच्छामि खमासमणो' से 'मे मिउग्गहं' तक के पाठ का अर्थ है–मैं पाप से मुक्त होकर आपको वन्दन करना चाहता हूँ। अतः आप परिमित–अवग्रह यानी स्थान दीजिये। यह पाठ अवग्रह की याचना की क्रिया का सूचक है। प्रस्तुत पाठ में "अणुजाणह" इस पद तक एक बार अपने शरीर को अर्ध अवनत करना होता है। यह एक अवनत है और पूर्ववत् पुनः वन्दन किया जाये तब दूसरा अवनत होता है। इस प्रकार कृतिकर्म में दो नमस्कार होते हैं। दीक्षा ग्रहण करते समय या जन्म ग्रहण करते समय बालक की ऐसी मुद्रा होती है–वह दोनों हाथ सिर पर रखा हुआ होता है। उसे यथाजात कहते हैं। वन्दन करते समय भी यथाजात मुद्रा होनी चाहिये। अवग्रह में प्रवेश करने की अनुज्ञा प्राप्त होने पर उभड़क आसन से बैठकर दोनों हाथ गुरु की दिशा में लम्बे कर के दोनों हाथों से गुरु के चरणों का स्पर्श करे। "अहोकायं" इस पाठ में "अ" अक्षर मन्द स्वर में कहे। वहाँ से हाथ लेकर पुनः अपने मस्तिष्क के मध्यभाग को स्पर्श करता हुआ "हो" अक्षर का उच्च स्वर से उच्चारण करना। इस प्रकार "अहो" शब्द के उच्चारण करने में एक आवर्त्त हुआ। उसी प्रकार "कायं" शब्दोच्चार में भी एक आवर्त्त करना। उसी तरह "कायसंफासं" में काय के उच्चारण में एक आवर्त्तन करना। इस प्रकार ये तीन आवर्त्तन हुए। उस के पश्चात् "जत्ता भे" में "ज" अक्षर का मन्दोच्चार कर गुरु के चरण को कर से स्पर्श करना चाहिये और "त्ता" का मध्यम उच्चारण करते समय गुरुचरण से दोनों हाथ हटाकर "अधर" में रखना

चाहिये और "भे" अक्षर उच्च स्वर से बोलते हुए मस्तिष्क के मध्यभाग को हाथ से स्पर्श करना चाहिये। यह एक आवर्त्त हुआ। इसी प्रकार "ज" "व" "णि" इन तीन अक्षरों का उच्चारण करते समय और "जं" "च" "भे" इन तीन अक्षरों को बोलते हुए तीसरा आवर्त्तन करना। इस प्रकार एक वन्दन करने में सभी आवर्त्त मिलकर छह आवर्त्त होते हैं। द्वितीय बार बन्दन में भी छह आवर्त्त होते हैं। इस तरह कृतिकर्म के बारह आवर्त्त होते हैं।

अवग्रह में प्रवेश करने के पश्चात क्षामणा करते समय शिष्य और आचार्य दोनों के मिलकर दो शिरोनमन होते हैं और इसी प्रकार दूसरी वन्दना के प्रसंग पर दो शिरोनमन होते हैं। इस तरह चार शिरोनमन हुए। शिष्य जब वन्दन करता है तब मन, वचन और काया को संयम में रखना चाहिये। ये तीन गुप्ति हैं। प्रथम वन्दन के समय अवग्रह-याचना कर प्रवेश करना और इसी प्रकार द्वितीय वन्दन के समय भी। इस तरह ये दो प्रवेश होते हैं। आवश्यकीय करके अवग्रह से प्रथम वन्दन करने के पश्चात बाहर जाना यह निष्क्रमण है। यह एक ही है। दूसरे वन्दन में बाहर न जाकर गुरु के चरणारविन्दों में रहकर ही सूत्र समाप्ति करनी होती है। ये वन्दन के पच्चीस आवश्यक हैं[१६१]।

इस तरह प्रस्तुत समवाय में भी पूर्व समवायों की तरह ज्ञानवर्धक सामग्री का सुन्दर संकलन है।

तेरहवाँ व चौदहवाँ समवाय : एक विश्लेषण

तेरहवें समवाय में तेरह क्रिया-स्थान, सौधर्म, ईशानकल्प में तेरह विमान प्रस्तट, प्राणायु नामक बारहवें पूर्व में तेरह वस्तु नामक अधिकार, गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तेरह प्रकार के योग, सूर्य मण्डल, तथा नारकी व देवों की तेरह पल्योपम व तेरह सागरोपम स्थिति का निरूपण है। क्रिया आदि के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों पर विस्तार के साथ लिखा जा चुका है।

चौदहवें समवाय में चौदह भूतग्राम, चौदह हजार भगवान् महावीर के श्रमण, चौदह जीवस्थान, चक्रवर्ती के चौदह रत्न, चौदह महानदियां, नारक व देवों की चौदह पल्योपम व चौदह सागरोपम की स्थिति के साथ चौदह भव कर मोक्ष जाने वाले जीवों का वर्णन है।

यहाँ पर सर्वप्रथम चौदह भूतग्राम का उल्लेख हुआ है। भूत अर्थात् जीव और ग्राम का अर्थ है समूह अर्थात् जीवों के समूह को भूतग्राम कहते हैं। समवायांग की तरह भगवती सूत्र[१६२] में भी इन भेदों का उल्लेख हुआ है। इन में सात अपर्याप्त हैं और सात पर्याप्त हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में चार पर्याप्तियाँ होती हैं। बेइन्द्रिय,

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संमूर्छिम मनुष्यों में पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी तिर्यञ्च, मनुष्य, नारक और देव में छह पर्याप्तियाँ होती हैं। जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ संभव हैं, उन्हें जब तक पूर्ण न कर ले तब तक वह जीव की अपर्याप्त अवस्था है और उन्हें पूर्ण कर लेना पर्याप्त अवस्था है। इस तरह पर्याप्त और अपर्याप्त के मिलाकर चौदह प्रकार किये गये हैं। इस के बाद चौदह पूर्वों का उल्लेख है। पूर्व श्रुत, विज्ञान का असीम कोष है। पर अत्यन्त परिताप है कि वह कोष श्रमण भगवान् महावीर के पश्चात भयंकर द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण तथा स्मृति दौर्बल्य आदि के कारण नष्ट हो गया। उस के पश्चात चौदह जीवस्थानों का उल्लेख है। जीवस्थान को ही समयसार[१६३] में प्राकृत पंचसंग्रह[१६४] व कर्मग्रन्थ[१६५] में 'गुणस्थान' कहा है। आचार्य नेमिचन्द्र[१६६] ने जीवों को गुण कहा है। चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम, आदि भावाभावजनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। परिणाम और परिणामी का अभेदोपचार करने से जीवस्थान को गुणस्थान कहा है। गोम्मटसार[१६७] में गुणस्थान को जीव-समास भी कहा है। षड्खण्डागम धवलावृत्ति[१६८] में लिखा है कि जीव गुणों में रहता है, अतः उसे जीवसमास कहते हैं। कर्म के उदय से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वह औदयिक हैं। कर्म के उपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वह औपशमिक हैं। कर्म के क्षयोपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वह क्षायोपशमिक हैं। कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले गुण क्षायिक हैं। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना जो गुण स्वभावतः पाये जाते हैं, वे पारिणामिक हैं। इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा गया है। जीवस्थान को समवायांग के बाद के साहित्य में गुणस्थान कहा गया है। आचार्य नेमिचन्द्र[१६९] ने संक्षेप और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची माने हैं। कर्मग्रन्थ[१७०] में जिन्हें चौदह जीवस्थान बताया है, उन्हें समवाय में चौदह भूतग्राम की संज्ञा दी गयी है। जिन्हें कर्मग्रन्थ में गुणस्थान कहा है, उन्हें समवाय में जीवस्थान कहा है। इस प्रकार कर्मग्रन्थ और समवाय में संज्ञाभेद है, अर्थभेद नहीं है। समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्म-विशुद्धि बताया है। आचार्य अभयदेव[१७१] ने गुणस्थानों को मोहनीय कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न बताया है। नेमिचन्द्र[१७२] ने लिखा है–प्रथम चार गुणस्थान दर्शनमोह के उदय आदि से होते हैं और आगे के आठ गुणस्थान चारित्रमोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न होते हैं। शेष दो योग के भावाभाव के कारण। यहाँ पर संक्षेप में गुणस्थानों का स्वरूप उजागर हुआ है। इस तरह चौदहवें समवाय में बहुत ही उपयोगी सामग्री का संयोजन है।

पन्द्रहवाँ व सोलहवाँ समवाय : एक विश्लेषण

पन्द्रहवें समवाय में पन्द्रह परम अधार्मिक देव, नमि अर्हत् की पन्द्रह धनुष की ऊँचाई, राहु के दो प्रकार, चन्द्र के साथ पन्द्रह मुहूर्त तक छह नक्षत्रों का रहना, चैत्र

और आश्विन माह में पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त के दिन व रात्रि होना, विद्यानुवाद पूर्व के पन्द्रह अर्थाधिकार, मानव के पन्द्रह प्रकार के प्रयोग तथा नारकों व देवों की पन्द्रह पल्योपम व सागरोपम की स्थिति का वर्णन है।

सोलहवें समवाय में सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन कहे हैं। अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय हैं। मेरुपर्वत के सोलह नाम, भगवान् पार्श्व के सोलह हजार श्रमण, आत्मप्रवाद पूर्व के सोलह अधिकार, चमरचंचा और बलीचंचा राजधानी का सोलह हजार योजन का आयाम विष्कम्भ, नारकों व देवों के सोलह पल्योपम तथा सोलह सागरोपम की स्थिति और सोलह भव कर मोक्ष जाने वाले जीवों का वर्णन है।

प्रस्तुत समवाय, में द्वितीय अंग सूत्रकृतांग के अध्ययनों की जानकारी दी गयी है। सूत्रकृतांग का दार्शनिक आगम की दृष्टि से गौरवपूर्ण स्थान है, जिसमें पर मत का खण्डन और स्वमत का मण्डन किया गया है। सूत्रकृतांग की तुलना बौद्धपरम्परा के अभिधम्मपिटक से की जा सकती है। जिस में बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित बासठ मतों का खण्डन कर स्वमत की संस्थापना की है। वैसे ही सूत्रकृतांग में ३६३ अन्य यूथिक मतों का खण्डन कर स्वमत की संस्थापना की है। प्रस्तुत समवाय में ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् पार्श्व के सोलह हजार श्रमणों का उल्लेख हुआ है। इस तरह प्रस्तुत समवाय का अलग ही महत्त्व है।

सत्रहवाँ व अठारहवाँ समवाय : एक विश्लेषण

सत्रहवें समवाय में सत्रह प्रकार का संयम और असंयम, मानुषोत्तर पर्वत की ऊँचाई आदि, सत्रह प्रकार के मरण, दशवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में सत्रह कर्म प्रकृतियों का बन्ध तथा नारकी और देवों की सत्रह पल्योपम व सागरोपम की स्थिति का वर्णन कर सत्रह भव करके मोक्ष में जाने वाले जीवों का वर्णन है।

सर्वप्रथम संयम और असंयम की चर्चा है। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर संयम और असंयम की चर्चा हुई है। स्थानांग सूत्र[१७३] में विभिन्न स्थानों पर संयम, असंयम के भेद प्रतिपादित किये हैं। वस्तुतः यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना, अयतनापूर्वक कोई भी प्रवृत्ति नहीं करना अथवा प्रवृत्तिमात्र से निवृत्त होना तथा अपनी इन्द्रियों एवं मन पर नियन्त्रण करना संयम कहलाता है। संयम के चार प्रकार–मन, वचन, काय और उपकरण संयम हैं। संयम के पाँच, सात, आठ, दश प्रकार भी हैं। उसी तरह असंयम के भी प्रकार हैं। संयम के प्रकारान्तर से सराग संयम और वीतराग संयम ये दो भेद भी हैं। उन सभी प्रकार के संयमों का विभिन्न दृष्टियों से निरूपण हुआ है। संयम साधना का प्राण है। संयम ऐसा सुरीला संगीत है जिसकी सुरीली स्वर-लहरियों

से साधक का जीवन परमानन्द को प्राप्त करता है। प्रस्तुत समवाय में मरण के सत्रह भेद बताये हैं। जो जीव जन्म लेता है, वह अवश्य ही मृत्यु को वरण करता है। जो फूल खिला है, वह अवश्य मुरझाता है। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि मृत्यु अवश्यंभावी है। सभी महान् दार्शनिकों ने मृत्यु के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। स्थानांग[१७४] में मरण के बालमरण, पण्डितमरण और बालपण्डित मरण ये तीन भेद किये हैं और इन तीनों के भी तीन-तीन अवान्तर भेद किये हैं। भगवती[१७५] में आवीचिमरण, अवधिमरण, आत्यन्तिकमरण, बालमरण, पण्डितमरण, ये पाँच प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन[१७६] सूत्र में अकाम और सकाम मरण का वर्णन है। यहाँ पर मरण के सत्रह प्रकार बताये हैं। जिस में सभी प्रकार के मरणों का समावेश हो गया है। इस तरह सत्रहवें समवाय में विविध विषयों का निरूपण हुआ है।

अठारहवें समवाय में ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार, अर्हन्त अरिष्टनेमि के अठारह हजार श्रमण, तथा सक्षुद्रक व्यक्त श्रमणों के अठारह स्थान, आचारांग सूत्र के अठारह हजार पद, ब्राह्मीलिपि के अठारह प्रकार, अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व के अठारह अधिकार, पौष व आषाढ़ मास में अठारह मुहूर्त के रात और दिन, नारकों व देवों की अठारह पल्योपम व सागरोपम की स्थिति का वर्णन और अठारह भव कर मोक्ष में जाने वाले जीवों का वर्णन है।

प्रस्तुत समवाय में ब्रह्मचर्य आदि का जो निरूपण है, उसके सम्बन्ध में हम पूर्व पृष्ठों में चिन्तन कर चुके हैं। इसमें औदारिक आदि शरीरों की अपेक्षा से उस के विभिन्न प्रकार बताये हैं। भगवान् अरिष्टनेमि के अठारह हजार श्रमणों का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[१७७] कर्मयोगी श्रीकृष्ण को इतिहासकारों ने ऐतिहासिक पुरुष माना है। इसलिये उस युग में हुए भगवान् अरिष्टनेमि को भी ऐतिहासिक पुरुष मानने में कोई बाधा नहीं है। ब्राह्मीलिपि के लिए ज्ञातासूत्र की प्रस्तावना देखिए।[१७८] इस प्रकार अठारहवें समवाय में सामग्री का संकलन हुआ है।

उन्नीसवां और बीसवां समवाय : एक विश्लेषण

उन्नीसवें समवाय में बतलाया है–ज्ञातासूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययन, जम्बूद्वीप का सूर्य उन्नीस सौ योजन के क्षेत्र को संतप्त करता है। शुक्र, उन्नीस नक्षत्रों के साथ अस्त होता है। उन्नीस तीर्थंकर आगारवास में रहकर दीक्षित हुए। नारकों व देवों की उन्नीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति। अगार-वास में रहकर उन्नीस तीर्थंकरों ने अनगार धर्म को ग्रहण किया। स्थानांग सूत्र[१७९] में वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ने कुमारावस्था में दीक्षा ग्रहण की। आचार्य अभयदेव ने कुमारवास का अर्थ किया है–जिन्होंने राज्य नहीं किया। प्रस्तुत सूत्र में भी **"अगारवासमज्झे वसित्ता"** का अर्थ चिरकाल तक राज्य करने के पश्चात दीक्षा ग्रहण की, ऐसा किया है। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से कुमारवास का अर्थ

"कुँवारा" है। और वे पाँचों को बालब्रह्मचारी मानते हैं। शेष उन्नीस तीर्थंकरों का राज्याभिषेक हुआ। उन में से तीन तीर्थंकर तो चक्रवर्ती भी हुए। निर्युक्तिकार[१८०] ने यह भी सूचन किया है कि पाँच तीर्थंकरों ने प्रथम वय में प्रव्रज्या ग्रहण की थी और उन्नीस तीर्थंकरों ने मध्यम वय में। कल्पसूत्र[१८१] आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भगवान् महावीर ने विवाह किया था। इसलिये आवश्यकनिर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु भगवान् महावीर को विवाहित मानते हैं। इस तरह उन्नीसवें समवाय में वर्णन है।

बीसवें समवाय में बीस असमाधिस्थान, मुनिसुव्रत अर्हत् की बीस धनुष ऊँचाई, घनोदधि वातवलय बीस हजार योजन मोटे, प्राणत देवेन्द्र के बीस हजार सामानिक देव, प्रत्याख्यान पूर्व के बीस अर्थाधिकार एवं बीस कोटाकोटि सागरोपम का कालचक्र कहा है। किन्हीं नारकों व देवों की स्थिति बीस पल्योपम व सागरोपम की बताई है। जिन कार्यों को करने से स्वयं को या दूसरों के चित्त में संक्लेश उत्पन्न होता है, वे असमाधिस्थान हैं। समाधि के सम्बन्ध में हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

इक्कीसवां व बाईसवां समवाय : एक विश्लेषण

इक्कीसवें समवाय में इक्कीस शबल दोष, सात प्रकृतियों के क्षपक नियट्टि-बादर गुणस्थान में मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का सत्त्व कहा है। अवसर्पिणी के पांचवें, छठे आरे तथा उत्सर्पिणी के प्रथम और द्वितीय आरे इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष के हैं। और नारकों व देवों की इक्कीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति बतायी है। यहाँ पर शबल का अर्थ है–कर्बुरित, मलीन या धब्बों से विकृत जो कार्य चारित्र को मलीन बनाते हैं, वे शबल हैं। दशाश्रुतस्कन्ध में भी इन दोषों का निरूपण है। इस प्रकार इक्कीसवें समवाय में दोषों से बचने का संकेत है और कुछ ऐतिहासिक सामग्री भी है।

बाईसवें समवाय में बाईस परीषह, दृष्टिवाद के बाईस सूत्र, पुद्गल के बाईस प्रकार तथा नारकों व देवों की बाईस पल्योपम व बाईस सागरोपम स्थिति का वर्णन है।

प्रस्तुत समवाय में परीषह के बाईस प्रकार बताये हैं। भगवती सूत्र[१८२] और उत्तराध्ययन सूत्र[१८३] में परीषह का विस्तार से निरूपण है। परीषह एक कसौटी है। बीज को अंकुरित होने में जल के साथ चिलचिलाती धूप की आवश्यकता होती है। इसी तरह साधना में निखार लाने के लिये परीषह की उष्णता भी आवश्यक है। परीषह आने पर साधक घबराता नहीं है। पर वह सोचता है कि अपने आप को परखने का मुझे सुनहरा अवसर मिला है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति[१८४] के अनुसार परीषह अध्ययन, कर्मप्रवाद पूर्व के सत्रहवें प्राभृत से उद्धृत है। तत्त्वार्थसूत्र[१८५] में भी परीषहों का निरूपण किया गया है।

तेईसवां और चौबीसवां समवाय : एक विश्लेषण

तेईसवें समवाय में निरूपित है–सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययन, जम्बूद्वीप के इक्कीस तीर्थंकरों को सूर्योदय के समय केवलज्ञान समुत्पन्न होना, भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर तेईस तीर्थंकर पूर्वभव में ग्यारह अंग के ज्ञाता थे। ऋषभ का जीव चतुर्दश पूर्व का ज्ञाता था। तेईस तीर्थंकर पूर्वभव में माण्डलिक राजा थे। ऋषभ चक्रवर्ती थे। नारकों व देवों की तेईस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति बताई गई है। यहाँ पर सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह, और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन मिलाकर कुल तेईस अध्ययनों का निरूपण किया है। प्रस्तुत समवाय में तेईस तीर्थंकरों को सूर्योदय के समय केवलज्ञान उत्पन्न होने की बात कही है। आवश्यक निर्युक्ति[१८६] में प्रथम तेईस तीर्थंकरों को पूर्वाह्न में और महावीर को पश्चिमाह्न में केवलज्ञान हुआ, ऐसा लिखा है। टीकाकार ने एक मत यह भी दिया है कि बाईस तीर्थंकरों को दिन के पूर्व भाग में और मल्ली भगवती और श्रमण भगवान् महावीर को दिन के अन्तिम भाग में केवलज्ञान हुआ। दिगम्बर ग्रन्थों में किस समय किस को केवलज्ञान हुआ, इस सम्बन्ध में मतभेद है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के जीव को बारह अंगों का ज्ञान था,[१८७] यह स्पष्ट संकेत है। दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि ऋषभ के जीव को ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान था। इस तरह तेईसवें समवाय में सामग्री का चयन हुआ है।

चौबीसवें समवाय में निरूपित है–चौबीस तीर्थंकर, क्षुल्लक हिमवन्त, और शिखरीपर्वत की जीवाएँ, चौबीस अहमिन्द्र, चौबीस अँगुल वाली उत्तरायणगत सूर्य की पौरुषी छाया, गङ्गा सिन्धु महानदियों का उद्गम-स्थल पर चौबीस कोस का विस्तार, नारकों व देवों की चौबीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति।

पच्चीसवां समवाय : एक विश्लेषण

पच्चीसवें समवाय में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के पंचयाम यानी महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ कही गई हैं। मल्ली भगवती पच्चीस धनुष ऊँची थीं। वैताढ्य पर्वत पच्चीस योजन ऊँचा है और पच्चीस कोस भूमि में गहरा है। दूसरे नरक के पच्चीस लाख नारकावास हैं। आचारांग सूत्र के पच्चीस अध्ययन हैं। अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय नाम कर्म की पच्चीस उत्तर प्रकृतियाँ बाँधते हैं। लोकबिन्दुसार पूर्व के पच्चीस अर्थाधिकार हैं। नारकों और देवों की पच्चीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति है। यहाँ पर सर्वप्रथम पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ बतायी हैं।

भावना साधना के लिये आवश्यक है। उसमें आपार बल और असीमित शक्ति होती है। भावना के बल से असाध्य भी साध्य हो जाता है। जिन चेष्टाओं और संकल्पों से मानसिक विचारों को भावित या वासित किया जाये, वह भावना है।[१८८]

आचार्य पतंजलि ने भावना और जप में अभेद माना है।[१९९] भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है[१९०] कि जिसकी भावना शुद्ध है, वह जल में नौका के सदृश है। वह तट को प्राप्त कर सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। भावना के अनेक प्रकार हो सकते हैं–ज्ञान, दर्शन और चारित्र, भक्ति प्रभृति। जितनी भी श्रेष्ठ चेष्टाओं से आत्मा को भावित किया जाये वे सभी भावनाएँ हैं। तथापि भावना के अनेक वर्गीकरण मिलते हैं। पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ हैं।[१९१] जो महाव्रतों की स्थिरता के लिये हैं।[१९२] प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच-भावनाएँ हैं। आगम साहित्य आचारांग तथा प्रश्नव्याकरण में भावनाओं के जो नाम आये हैं, वे नाम समवायांग में कुछ पृथकता लिये हुए हैं। आचारांग[१९३] में (१) ईर्यासमिति (२) मनपरिज्ञा (३) वचन परिज्ञा (४) आदान निक्षेपण समिति (५) आलोकित पानभोजन –ये अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। प्रश्नव्याकरण[१९४] में अहिंसा महाव्रत की (१) ईर्यासमिति (२) अपापमन (३) अपापवचन (४) एषणा समिति (५) आदान निक्षेपण समति; जब कि प्रस्तुत समवाय में अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार आई हैं–(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) आलोक भाजन भोजन, (५) आदान भाण्डमात्र निक्षेपण समिति। आचार्य कुन्दकुन्द[१९५] ने अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ इसी प्रकार बताई हैं। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में भी (१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) एषणा समिति (४) आदान निक्षेपण समिति (५) आलोकित पानभोजन समिति, तत्त्वार्थ राजवार्तिक[१९६] और सवार्थसिद्धि में[१९७] एषणा समिति के स्थान पर वाक् गुप्ति बताई है। इसी तरह सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ आचारांग[१९८] में इस प्रकार हैं–(१) अनुवीचि भाषण, (२) क्रोध प्रत्याख्यान (३) लोभ प्रत्याख्यान (४) भय प्रत्याख्यान (५) हास्य प्रत्याख्यान। प्रश्नव्याकरण में ये ही नाम मिलते हैं। समवायांग में (१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोधविवेक (३) लोभविवेक (४) भयविवेक, और (५) हास्यविवेक हैं। आचारांग[१९९] और प्रश्नव्याकरण[२००] में क्रोध आदि का प्रत्याख्यान बताया है। जब कि समवायांग में विवेक शब्द का उल्लेख है। विवेक से तात्पर्य क्रोध आदि के परिहार से ही है। आचार्य कुन्दकुन्द[२०१] ने सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार बताई हैं (१) अक्रोध (२) अभय (३) अहास्य (४) अलोभ (५) अमोह। उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा में आये हुए अनुवीचि भाषण के स्थान पर अमोह भावना का उल्लेख किया है। चारित्र प्राभृत की टीका[२०२] में अमोह का अर्थ अनुवीचि भाषण कुशलता किया है। अनुवीचि भाषणता से तात्पर्य है कि **वीचि वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीचिभाषा जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचिभाषा पूर्वाचार्यसूत्रपरिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीयमित्यर्थः**। श्वेताम्बर परम्परा में अनुवीचि भाषण का अर्थ अनुविचिंत्य भाषणम् अर्थात् "चिन्तनपूर्वक बोलना" किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक[२०३] में दोनों ही अर्थों को ग्रहण किया है। अचौर्य महाव्रत की पाँच

भावनाएँ इस प्रकार हैं–(१) अनुवीचिमितावग्रह याचन (२) अनुज्ञापित पान-भोजन (३) अवग्रह का अवधारण (४) अभीक्ष्ण अवग्रह याचन (५) साधर्मिक से अवग्रह याचना प्रश्नव्याकरण में (१) विविक्त वासवसति (२) अभीक्ष्ण अवग्रह याचन (३) शय्या समिति (४) साधारण पिण्डमात्र लाभ (५) विनय प्रयोग। समवायांग सूत्र में ये नाम हैं–(१) अवग्रहानुज्ञापना (२) अवग्रह सीमापरिज्ञान (३) स्वयं ही अवग्रह अनुग्रहणता (४) साधर्मिक अवग्रह अनुज्ञापनता (५) साधारण भक्तपान अनुज्ञाप्य परिभुञ्जनता। आचार्य कुन्दकुन्द ने अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार दी हैं–(१) शून्यागारनिवास (२) विमोचितावास (३) परउपरोध न करना (४) एषणाशुद्धि (५) साधर्मिक-अविसंवाद। अचौर्य महाव्रत की पाँचों भावनाएँ दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों से भिन्न हैं। जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने भावनाओं का निरूपण किया है वैसी ही सर्वार्थसिद्धि में भी बताई गयी हैं।

आचारांग में ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं–(१) स्त्रीकथावर्जन (२) स्त्री के अंग प्रत्यंग अवलोकन का वर्जन (३) पूर्वभुक्त भोग स्मृति का वर्जन (४) अतिमात्र और प्रणीत पान भोजन का परिवर्जन (५) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन। प्रश्नव्याकरण में (१) असंसक्त वास वसति, (२) स्त्रीजन कथा-वर्जन (३) स्त्री के अंग प्रत्यंगों और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन (४) पूर्व भुक्त भोगों की स्मृति का वर्जन, (५) प्रणीत रस भोजन का वर्जन। समवायांग में (१) स्त्री-पशु और नपुंसक से संसक्त शयन, आसन का वर्जन (२) स्त्रीकथाविवर्जनता (३) स्त्रियों की इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन (४) पूर्व भुक्त और पूर्व क्रीडित का अस्मरण (५) प्रणीत आहार का विवर्जन। आचार्य कुन्दकुन्द[२०४] ने ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ ये बताई हैं–(१) महिला अवलोकन विरति (२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना (३) संसक्त वसति विरति (४) स्त्री रागकथा-विरति, (५) पौष्टिक रसविरति। आचार्य उमास्वाति[२०५] ने और सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मचर्य की भावनाएँ इस प्रकार हैं। (१) स्त्रीरागकथावर्जन (२) मनोहर अंग निरीक्षण विरति (३) पूर्वरतानुस्मरणपरित्याग (४) वृष्येष्टरस-परित्याग (५) स्वशरीरसंस्कारपरित्याग।

अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ आचारांग में इस प्रकार हैं–(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव (२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव (३) मनोज्ञ और अमोज्ञ गन्ध में समभाव (४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव (५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव और यही नाम प्रश्नव्याकरण में ज्यों के त्यों मिलते हैं। समवायांग में इस प्रकार है–(१) श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति (२) चक्षुरिन्द्रियरागोपरति (३) घ्राणेन्द्रियरागोपरति (४) रसनेन्द्रियरागोपरति और (५) स्पर्शेन्द्रियरागोपरति। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरिग्रह महाव्रत की भावनाओं में आचारांग और प्रश्नव्याकरण का ही अनुसरण किया है। इस प्रकार पंच महाव्रतों की भावना के सम्बन्ध में विभिन्न स्थलों

पर नामभेद व क्रमभेद प्राप्त होता है; तथापि आगम और आगमेतर साहित्य का हार्द एक ही है। यहाँ पर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के पांच महाव्रतों को लक्ष्य में रखकर पच्चीस भावनाएं निरूपित की गयी हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक के शासन में चार याम थे। उत्तराध्ययन,[२०६] भगवती[२०७] आदि इस बात के साक्ष्य हैं। प्रस्तुत समवाय में वैताढ्य पर्वत को पच्चीस योजन ऊँचा कहा है, पर असावधानी से पच्चीस धनुष छपा है, जो सही नहीं है। इस प्रकार पच्चीसवें समवाय में सामग्री का संकलन है।

छब्बीसवें से उनतीसवाँ समवाय : एक विश्लेषण

छब्बीसवें समवाय में दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र के छब्बीस उद्देशन काल कहे हैं। अभव्य जीवों के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियाँ, नारकों व देवों के छब्बीस पल्योपम और सागरोसम की स्थिति का वर्णन है।

सत्ताईसवें समवाय में श्रमण के सत्ताईस गुण, नक्षत्र मास के सत्ताईस दिन, वेदक सम्यक्त्व के बन्ध रहित जीव के मोहनीय कर्म की सत्ताईस प्रकृतियाँ, श्रावण सुदी सप्तमी के दिन सत्ताईस अंगुल की पौरुषी छाया और नारकों व देवों की सत्ताईस पल्योपम एवं सागरोपम की स्थिति का वर्णन है।

अट्ठाईसवें समवाय में आचारप्रकल्प के अट्ठाईस प्रकार बताये हैं। भवसिद्धिक जीवों में मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ कही गयी हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान के अट्ठाईस प्रकार हैं। ईशान कल्प में अट्ठाईस लाख विमान हैं। देव गति बाँधने वाला नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को बाँधता है। तो नारकीय जीव भी अट्ठाईस प्रकृतियों को बाँधता है। अन्तर शुभ व अशुभ का है। नारकों व देवों की अट्ठाईस पल्योपम और सागरोपम की स्थिति का वर्णन है।

यहाँ पर सर्वप्रथम आचारकल्प के अट्ठाईस प्रकार बताये हैं। आचार्य संघदास गणि[२०८] ने निशीथ के आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका– ये पर्यायवाची नाम माने हैं। उक्त शास्त्र का सम्बन्ध चरणकरणानुयोग से है। अतः इस का नाम "आचार" है। आचारांग सूत्र के पाँच अग्र हैं–चार आचारचूलाएँ और निशीथ। इसलिये निशीथ का नाम अग्र है।[२०९] निशीथ की नौवें पूर्व आचारप्राभृत से रचना की गयी है। इसलिये इस का नाम प्रकल्प है। प्रकल्प का द्वितीय अर्थ "छेदन" करने वाला भी है।[२१०] आगम साहित्य में निशीथ का "आयारपकप्प" नाम मिलता है। अग्र और चूला ये दोनों समान अर्थ वाले शब्द हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान के अट्ठाईस प्रकार बताये गये हैं। नन्दीसूत्र[२११] में तथा तत्त्वार्थसूत्र,[२१२] तत्त्वार्थभाष्य,[२१३] तत्त्वार्थ-राजवार्तिक,[२१४] विशेषावश्यक-भाष्य[२१५] आदि में भी ज्ञान की विस्तार से चर्चा की गयी है।[२१६] यहाँ पर केवल सूचन मात्र किया गया है। इस तरह अट्ठाईसवें समवाय में सामग्री का संकलन हुआ है।

उनतीसवें समवाय में पापश्रुत प्रसंग, आषाढ़ मास आदि के उनतीस रात दिन, सम्यग्दृष्टि, तीर्थंकर-नाम सहित नामकर्म की प्रकृतियों को बाँधता है। नारकों और देवों की उनतीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति आदि का वर्णन है।

प्रस्तुत समवाय में सर्वप्रथम पापश्रुत प्रसंगों का वर्णन किया है। स्थानांग[२१७] में नौ पापश्रुत प्रसंग बताये हैं तो समवायांग सूत्र में उनतीस प्रकार बताये हैं। मिथ्या शास्त्र की आराधना भी पाप का निमित्त बन सकती है इसलिये यहाँ पापश्रुत के प्रसंग बताये हैं। पर संयमी साधक, जो सम्यग्दृष्टि है, उसके लिये पापश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाता है। आचार्य देववाचक ने कहा है कि **"सम्मदिट्ठिस्स सम्मासुयं, मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छासुयं"** सम्यग्दृष्टि असाधारण संयोगों में या अमुक अपेक्षा की दृष्टि से विवेकपूर्वक इनका अध्ययन करता है तो ये पापश्रुत प्रसंग नहीं हैं। जैन इतिहास में ऐसे अनेकों प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने इन विद्याओं के द्वारा धर्म की प्रभावना भी की है। इस तरह उनतीसवें समवाय मे सामग्री का संकलन है।

तीसवें समवाय से पेंतीसवां समवाय : एक विश्लेषण

तीसवें समवाय में मोहनीय कर्म बाँधने के तीस स्थान, मण्डितपुत्र स्थविर की तीस वर्ष श्रमण पर्याय, अहोरात्र के तीस मुहूर्त, अठारहवें अर नामक तीर्थंकर की तीस धनुष की ऊँचाई, सहस्रार देवेन्द्र के तीस हजार सामानिक देव, भगवान् पार्श्व व प्रभु महावीर का तीस वर्ष तक गृहवास में रहना, रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावास, नारकों व देवों की तीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति का वर्णन है।

मोहनीय कर्म के तीस निमित्त जो समवायांग में प्रतिपादित किये गये हैं, उनका दशाश्रुतस्कन्ध[२१८] में विस्तार से निरूपण है। आवश्यकसूत्र[२१९] में भी संक्षेप में सूचन किया गया है। टीकाकारों ने यह बताया है कि मोहनीय शब्द से सामान्य रूप से आठों कर्म समझने चाहिये और विशेष रूप से मोहनीय कर्म। इस समवाय में 'अर', पार्श्व और महावीर के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन हुआ है।

इकत्तीसवें समवाय में सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करने के प्रथम समय में होने वाले इकत्तीस गुण, मन्दर पर्वत, अभिवर्द्धित मास, सूर्यमास, रात्रि और दिन की परिगणना, और नारकों व देवों की इकत्तीस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति का वर्णन है।

बत्तीसवें समवाय में बत्तीस योगसंग्रह, बत्तीस देवेन्द्र, कुन्थु अर्हत् के बत्तीस सौ बत्तीस केवली, सौधर्म कल्प में बत्तीस लाख विमान, रेवती नक्षत्र के बत्तीस तारे, बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधि, तथा नारकों व देवों की बत्तीस सागरोपम व पल्योपम की स्थिति का वर्णन है।

मन, वचन और काया का व्यापार योग कहलाता है। यहाँ पर बत्तीस योगसंग्रह में मन, वचन और काया के प्रशस्त व्यापार को लिया गया है। आवश्यक बृहद्वृत्ति[२२०] में इस विषय पर चिन्तन किया गया है।

तेतीसवें समवाय में तेतीस आशातनाएँ, असुरेन्द्र की राजधानी में तेतीस मंजिल के विशिष्ट भवन तथा नारकों व देवों की तेतीस सागरोपम व पल्योपम की स्थिति का वर्णन है।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि जिन देवों की जितनी सागरोपम की स्थिति बतलायी गयी है, वे उतने ही पक्षों में उच्छ्वास और निश्वास लेते हैं और उतने ही हजार वर्ष के बाद उन्हें आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। प्रस्तुत समवाय में बताया है कि लघुश्रमणों का ज्येष्ठश्रमणों के साथ किस प्रकार का विनयपूर्वक व्यवहार रहना चाहिये, आशातना आदि से निरन्तर बचना चाहिये। जिस क्रिया के करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ह्रास होता है, वह आशातना-अवज्ञा है। तेतीस आशातनाओं का निरूपण दशाश्रुतस्कन्ध[२२१] में विस्तार से आया है।

चौंतीसवें समवाय में तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशय, चक्रवर्ती के चौंतीस विजयक्षेत्र, जम्बूद्वीप में चौंतीस दीर्घ वैताढ्य, जम्बूद्वीप में उत्कृष्ट चौंतीस तीर्थंकर उत्पन्न हो सकते हैं। तथा असुरेन्द्र के चौंतीस लाख तथा पहली, पाँचवी, छठी और सातवीं नरक में चौंतीस लाख नारकावास कहे हैं। प्रस्तुत समवाय में अतिशयों का उल्लेख है। अतिशयों के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र[२२२] और अभिधान चिन्तामणि[२२३] आदि ग्रन्थों में चिन्तन किया है। वह चिन्तन बृहद् वाचना के आधार पर है। यहाँ पर चौंतीस अतिशयों में से दूसरे अतिशय से पाँचवें तक जन्मप्रत्ययक हैं। इक्कीस से लेकर चौंतीस अतिशय व बारहवाँ अतिशय कर्म के क्षय से होता है। शेष अतिशय देवकृत हैं।

दिगम्बर परम्परा भी चौंतीस अतिशय मानती हैं। पर उन अतिशयों में कुछ भिन्नता है। वे दश जन्म प्रत्यय, चौदह देवकृत और दश केवलज्ञान कृत मानते हैं।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि समवायांग के टीकाकार आचार्य अभयदेव के मत से आहार नीहार, ये आँख से अदृश्य होते हैं। ये जन्मकृत अतिशय हैं। जब कि दिगम्बर मतानुसार आहार का अभाव, यह अतिशय माना गया है और वह जन्मकृत नहीं केवलज्ञानकृत है। श्वेताम्बर दृष्टि से भगवान् अर्धमागधी में उपदेश प्रदान करते है और वह उपदेश सभी जीवों की भाषा के रूप में परिणत होता है। ये दो अतिशय कर्मक्षयकृत माने गये हैं।

आचार्य अभयदेव और आचार्य हेमचन्द्र के अतिशयवर्णन में विभाजन पद्धति में कुछ अन्तर है। पर भाषा के सम्बन्ध में अभयदेव व हेमचन्द्र दोनों का एक ही मत है। आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि से उन्नीस अतिशय देवकृत हैं जब कि अभयदेव की दृष्टि

से पन्द्रह अतिशय देवकृत हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि भगवान का चारों ओर मुँह दिखायी देता है। वह देवकृत अतिशय है तो दिगम्बर दृष्टि से केवलज्ञान कृत है। तीन कोट की रचना को भी देवकृत अतिशय माना गया है। पर समवायांग में चौंतीस अतिशयों में उसका उल्लेख नहीं हैं। चौंतीस अतिशयों का जो विभाजन आचार्यों ने किया है. उस के सम्बन्ध में सबल तर्क का अभाव है कि अमुक अतिशय अमुक विभाग में क्यों दिया गया है ? समावायांग सूत्र के मूल में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं किया गया है। यह भी स्मरण रखना चाहिये। समवायांग की भाँति अंगुत्तरनिकाय (५।१२१) में तथागत बुद्ध के पाँच अतिशय बताये हैं–वे अर्थज्ञ होते हैं, धर्मज्ञ होते हैं, मर्यादा के ज्ञाता होते हैं, कालज्ञ होते हैं और परिषद् को जानने वाले होते हैं।

पैंतीसवें समवाय से सौवां समवाय : एक विश्लेषण

पैंतीसवें समवाय में पैंतीस सत्य वचन के अतिशय, कुन्थु अर्हत्, दत्त वासुदेव, नन्दन बलदेव, ये पैंतीस धनुष ऊँचे थे तथा दूसरे और चौथे नरक में पैंतीस लाख नारकावास हैं, यह निरूपण है।

छत्तीसवें समवाय में–उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययन, असुरेन्द्र की सुधर्मा-सभा छत्तीस योजन ऊँची, भगवान् महावीर की छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, और चैत्र और आसौज में छत्तीस अंगुल पौरुषी, आदि का वर्णन है।

सैंतीसवें समवाय में सैंतीस गणधर, सैंतीस गण, अड़तीसवें समवाय में भगवान् पार्श्व की अड़तीस हजार श्रमणियाँ, उन्तालीसवें समवाय में भगवान् नमिनाथ के उन्तालीस सौ अवधिज्ञानी, चालीसवें समवाय में भगवान् अरिष्टनेमि की चालीस हजार श्रमणियाँ थीं, आदि कथन हैं। इकतालीसवें समवाय में भगवान् नमिनाथ की ४१ हजार श्रमणियाँ, बयालीसवें समवाय में नामकर्म के ४२ भेद और भगवान् महावीर ४२ वर्ष से कुछ अधिक श्रमण पर्याय पालकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। तेतालीसवें समवाय में कर्मविपाक के ४३ अध्ययन, चवालीसवें समवाय में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन, पैंतालीसवें समवाय में मानव क्षेत्र, सीमांतक नरकावास, उडु विमान और सिद्धशिला, इन चारों को ४५ लाख योजन विस्तार वाला बताया है। छियालीसवें समवाय में ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर, सैंतालीसवें समवाय में स्थविर अग्निभूति के ४७ वर्ष तक गृहवास में रहने का वर्णन है। अड़तालीसवें समवाय में भगवान् धर्मनाथ के ४८ गणों, ४८ गणधरों का, उनचासवें समवाय में तेइन्द्रिय जीवों की ४९ अहोरात्र की स्थिति, पचासवें समवाय में भगवान् मुनिसुव्रत की ५० हजार श्रमणियाँ थीं, आदि वर्णन किया गया है। इक्यावनवें समवाय में ९ ब्रह्मचर्य अध्ययन, ५१ उद्देशनकाल और बावनवें समवाय में मोहनीय कर्म के ५२ नाम बताये हैं। त्रेपनवें समवाय में भगवान् महावीर के ५३ साधुओं के एक वर्ष की दीक्षा के बाद अनुत्तर

विमान में जाने का वर्णन है। चौवनवें समवाय में भरत और ऐरवत क्षेत्रों में क्रमशः ५४-५४ उत्तम पुरुष हुए हैं। और भगवान् अरिष्टनेमि ५४ रात्रि तक छद्मस्थ रहे। भगवान् अनन्तनाथ के ५४ गणधर थे। पचपनवें समवाय में भगवती मल्ली ५५ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध हुई। छप्पनवें समवाय में भगवान् विमल के ५६ गण व ५६ गणधर थे। सत्तावनवें समवाय में मल्ली भगवती के ५७०० मनःपर्यवज्ञानी थे। अठावनवें समवाय में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय इन पाँच कर्मों की ५८ उत्तर प्रकृतियाँ बताई हैं। उनसठवें समवाय में चन्द्रसंवत्सर की एक ऋतु ५९ अहोरात्रि की होती है। साठवें समवाय में सूर्य का ६ मुहूर्त तक एक मंडल में रहने का उल्लेख है।

इकसठवें समवाय मे एक युग के ६१ ऋतु मास बताये हैं। बासठवें समवाय में भगवान् वासुपूज्य के ६२ गण और ६२ गणधर बताये हैं। त्रेसठवें समवाय में भगवान् ऋषभदेव के ६३ लाख पूर्व तक राज्यसिंहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षा लेने का वर्णन है। चौंसठवें समवाय में चक्रवर्ती के बहुमूल्य ६४ हारों का उल्लेख है। पैंसठवें समवाय में गणधर मौर्यपुत्र ने ६५ वर्ष तक गृहवास में रहकर दीक्षा ग्रहण की। छयासठवें समवाय में भगवान् श्रेयांस के ६६ गण और ६६ गणधर थे। मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर बताई है। सड़सठवें समवाय में एक युग में नक्षत्रमास की गणना से ६७ मास बताये हैं। ६८वें समवाय में धातकीखण्ड द्वीप में चक्रवर्ती की ६८ विजय, ६८ राजधानियाँ और उत्कृष्ट ६८ अरिहंत होते हैं तथा भगवान् विमल के ६८ हजार श्रमण थे, यह कहा गया है। उनहत्तरवें समवाय में मानवलोक में मेरु के अतिरिक्त ६९ वर्ष और ६९ वर्षधर पर्वत बताए हैं। सत्तरवें समवाय में एक मास और २० रात्रि व्यतीत होने पर ७० रात्रि अवशेष रहने पर भगवान् महावीर ने वर्षावास किया, इस का वर्णन है। यहाँ पर परम्परा से वर्षावास का अर्थ संवत्सरी किया जाता है।

इकहत्तरवें समवाय में भगवान् अजित, चक्रवर्ती सगर ७१ लाख पूर्व तक गृहवास में रहकर दीक्षित हुए। ७२वें समवाय में भगवान् महावीर और उन के गणधर अचलभ्राता की ७२ वर्ष की आयु बताई है। ७२ कलाओं का भी उल्लेख है। तिहत्तरवें समवाय में विजय नामक बलदेव ७३ लाख की आयु पूर्ण कर सिद्ध हुए। ७४वें समवाय में गणधर अग्निभूति ७४ वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध हुऐ। ७५वें समवाय में भगवान् सुविधि के ७५सौ केवली थे। भगवान् शीतल ७५ लाख पूर्व और भगवान् शान्ति ७५ हजार वर्ष गृहवास में रहे। ७६वें समवाय में विद्युत कुमार आदि भवनपति देवों के ७६-७६ लाख भवन बताये गये हैं।सतहत्तरवें समवाय में सम्राट् भरत ७७ लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहे। ७७ राजाओं के साथ उन्होंने संयममार्ग ग्रहण किया। ७८वें समवाय में गणधर अकम्पित ७८ वर्ष की आयु में सिद्ध हुए। ७९वें समवाय में छठे नरक के मध्यभाग से छट्ठे घनोदधि के नीचे चरमान्त तक ७९

हजार योजन का अन्तर है। ८०वें समवाय में त्रिपृष्ठ वासुदेव ८० लाख वर्ष तक सम्राट् पद पर रहे।

८१वें समवाय में अर्हत् कुन्थुनाथ के ८१ सौ मनःपर्यवज्ञानी थे। ८२वें समवाय में ८२ रात्रियाँ व्यतीत होने पर श्रमण भगवान् महावीर का जीव गर्भान्तर में संहरण किया गया। ८३वें समवाय में भगवान् शीतल के ८३ गण और ८३ गणधर थे। ८४वें समवाय में भगवान् ऋषभदेव की ८४ लाख पूर्व की और भगवान् श्रेयांस की ८४ लाख वर्ष की आयु थी। भगवान् ऋषभ के ८४ गण, ८४ गणधर और ८४ हजार श्रमण थे। ८५वें समवाय में आचारांग के ८५ उद्देशन काल बताये हैं। ८६वें समवाय में भगवान् सुविधि के ८६ गण और ८६ गणधर बताये हैं। भगवान् सुपार्श्व के ८६ सौ वादी थे। ८७वें समवाय में ज्ञानावरणीय और अन्तराय कर्म को छोड़ कर शेष ६ कर्मों की ८७ उत्तरप्रकृतियाँ बतायी हैं। ८८वें समवाय में प्रत्येक सूर्य और चन्द्र के ८८-८८ महाग्रह बताये हैं। ८९वें समवाय में तृतीय आरे के ८९ पक्ष अवशेष रहने पर भगवान् ऋषभदेव के मोक्ष पधारने का उल्लेख है और भगवान् शान्तिनाथ की ८९ हजार श्रमणियाँ थीं। ९०वें समवाय में भगवान् अजित और शान्ति इन दोनों तीर्थंकरों के ९० गण और ९० गणधर थे।

९१वें समवाय में भगवान् कुन्थु के ९१ हजार अवधिज्ञानी श्रमण थे। ९२वें समवाय में गणधर इन्द्रभूति ९२ वर्ष की आयु पूर्ण कर मुक्त हुए। ९३वें समवाय में भगवान् चन्द्रप्रभ के ९३ गण और ९३ गणधर थे। भगवान् शान्तिनाथ के ९३सौ चतुर्दश पूर्वधर थे। ९४वें समवाय में भगवान् अजित के ९४सौ अवधिज्ञानी श्रमण थे। ९५वें समवाय में भगवान् श्री सुपार्श्व के ९५ गण और ९५ गणधर थे। भगवान् कुन्थु की ९५ हजार वर्ष की आयु थी। ९६वें समवाय में प्रत्येक चक्रवर्ती के ९६ करोड़ गाँव होते हैं। ९७वें समवाय में आठ कर्मों की ९७ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। ९८वें समवाय में रेवती व ज्येष्ठा पर्यन्त के १९ नक्षत्रों के ९८ तारे हैं। ९९वें समवाय में मेरु पर्वत भूमि से ९९ हजार योजन ऊँचा है। १००वें समवाय में भगवान् पार्श्व की और गणधर सुधर्मा की आयु सौ वर्ष की थी, यह निरूपण है।

उपर्युक्त पैंतीसवें समवाय से १००वें समवाय तक विपुल सामग्री का संकलन हुआ है। उस में से कितनी ही सामग्री पौराणिक विषयों से सम्बन्धित है। भूगोल और खगोल, स्वर्ग और नरक आदि विषयों पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है। आधुनिक विज्ञान की पहुँच जैन भौगोलिक विराट् क्षेत्रों तक अभी तक नहीं हो पायी है। ज्ञात से अज्ञात अधिक है। अन्वेषणा करने पर अनेक अज्ञात गम्भीर रहस्यों का परिज्ञान हो सकता है। इन समवायों में अनेक रहस्य आधुनिक अन्वेषकों के लिये उद्घाटित हुए हैं। उन रहस्यों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में खोजना अन्वेषकों का कार्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस में चौबीस तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, गणधर, तीर्थंकरों के श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका आदि के सम्बन्ध में भी विपुल सामग्री है। तीर्थंकर जैन शासन के निर्माता हैं। आध्यात्मिक-जगत् की आचारसंहिता के पुरस्कर्ता हैं। उन का जीवन साधकों के लिये सतत मार्गदर्शक रहा है। तीर्थंकरों के विराट् जीवनचरितों का मूल बीज प्रस्तुत समवायांग में है। ये ही बीज अन्य चरित ग्रन्थों में विराट् रूप ले सके हैं। तीर्थंकरों के प्राग् ऐतिहासिक और ऐतिहासिक विषयों पर विपुल सामग्री है और अन्य विज्ञों के अभिमतों के आलोक में भी उस पर चिन्तन किया जा सकता है। पर प्रस्तावना की पृष्ठमर्यादा को ध्यान में रखते हुए मैं जिज्ञासु पाठकों को इतना सूचन अवश्य करूंगा कि वे मेरे द्वारा लिखित, 'भगवान् ऋषभदेव : एक परिशीलन', 'भगवान् पार्श्वः एक समीक्षात्मक अध्ययन,' 'भगवान् अरिष्टनेमि' 'कर्मयोगी श्री कृष्णः एक अनुशीलन' और 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' ग्रन्थों[२२४] का अवलोकन करें। मैंने तीर्थंकरों के सम्बन्ध में अनेक तथ्य इन ग्रन्थों में दिये हैं। इसी तरह भगवान् महावीर के गणधरों के सम्बन्ध में भी "महावीर अनुशीलन" ग्रन्थ में चिन्तन किया है।

लिपि-विचार

४६वें समवाय में ब्राह्मीलिपि के उपयोग में आने वाले अक्षरों की संख्या ४६ बतायी है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत आगम की वृत्ति में यह स्पष्ट किया है कि ४६ अक्षर "अकार" से लेकर क्ष सहित हकार तक होने चाहिये। उन्होंने ऋ ॠ ऌ ॡ नहीं गिने हैं। शेष अक्षर लिये हैं। अठारहवें समवाय में लिपियों के सम्बन्ध में ब्राह्मीलिपि के नाम बताये हैं। आचार्य अभयदेव ने इन लिपियों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट लिखा है कि उन्हें इन लिपियों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विवरण प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये वे उस का विवरण नहीं दे सके हैं। आधुनिक अन्वेषणा के पश्चात् इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आशेक के शिलालेखों में जो लिपि प्रयुक्त हुई है, वह ब्राह्मीलिपि है। यवनों की लिपि यावनीलिपि है, जो आज अरबी और फारसी आदि के रूप में विश्रुत है। खरोष्टी लिपि गान्धार देश में प्रचलित थी। यह लिपि दाहिनी ओर से प्रारम्भ होकर बाईं ओर लिखी जाती थी। उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में अशोक के जो दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उन में प्रस्तुत लिपि का प्रयोग हुआ है। खर और ओष्ट इन दो शब्दों से खरोष्ट बना है। खर गधे को कहते हैं। संभव है कि प्रस्तुत लिपि का मोड़ गधे के होठ की तरह हो। इसलिये इस का नाम खरोष्ठी, खरोष्ठिका अथवा खरोष्ट्रिका पड़ा हो। पाँचवीं लिपि का नाम "खर-श्राविता" है। खर के स्वर की तरह जिस लिपि का उच्चारण कर्ण कटु हो, जिसके कारण संभवतः उसका नाम "खरश्राविता" पड़ा हो। छठी लिपि का नाम "पक्षारादिका" है। जिस का प्राकृत रूप "पहाराइआ" "पआराइआ" हो सकता है। संभव है कि पकार बहुल होने

के कारण या पकार से प्रारम्भ होने के कारण इस का नाम "पकारादिका" पड़ा हो। ग्यारहवीं लिपि का नाम "निह्नविका" है। निह्नव शब्द का प्रयोग जैन परम्परा में "छिपाने" के अर्थ में बहुत विश्रुत रहा है। जो लिपि गुप्त हो, या सांकेतिक हो, वह निह्नविका हो सकती है। वर्तमान में संकेत लिपि का प्रचलन अतिशीघ्र लिपि के रूप में है। प्राचीन युग में इसी तरह की कोई सांकेतिक लिपि रही होगी, जो निह्नविका के नाम से विश्रुत हो। बारहवीं लिपि का नाम अंकलिपि है। अंकों से निर्मित लिपि अंकलिपि होनी चाहिये। आचार्य कुमुदेन्दु ने "भू-वलय" ग्रन्थ का उट्टंकन इसी लिपि में किया है। यह ग्रन्थ यलप्पा शास्त्री के पास था, जो विश्वेश्वरम के रहने वाले थे। वह मैंने दिल्ली में सन् १९५४ में देखा था। उस में विविध-विषयों का संकलन-आकलन हुआ है, और अनेक भाषाओं का प्रयोग भी। यलप्पा शास्त्री के कहने के अनुसार उस में एक करोड़ श्लोक हैं और उसे भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने "विश्व का महान् आश्चर्य" कहा है। तेरहवीं लिपि "गणित लिपि" है। गणितशास्त्र सम्बन्धी संकेतों के आधार पर आधृत होने से लिपि "गणितलिपि" के रूप में विश्रुत रही हो। चौदहवीं लिपि का नाम "गान्धर्व" लिपि है। यह लिपि गन्धर्व जाति की एक विशिष्ट लिपि थी। पन्द्रहवीं लिपि का नाम "भूतलिपि" है। भूतान देश में प्रचलित होने के कारण यह भूतलिपि कहलाती हो। भूतान को ही वर्तमान में भूटान कहते हैं। अथवा भोट या भोटिया, तथा भूत जाति में प्रचलित लिपि रही हो। संभव है कि पैशाची भाषा की लिपि भूतलिपि कहलाती हो। भूत और पिशाच, ये दोनों शब्द एकार्थक से रहे हैं। इसलिये पैशाचीलिपि को भूतलिपि कहा गया हो। जो लिपि बहुत सुन्दर व आकर्षक रही होगी, वह सोलहवीं लिपि "आदर्श लिपि" के रूप में उस समय प्रसिद्ध रही होगी। यह लिपि कहाँ पर प्रचलित थी, यह अभी तक लिपिविशेषज्ञ निर्णय नहीं कर सके हैं। सत्रहवीं लिपि का नाम "माहेश्वरी" लिपि है। माहेश्वरी वैश्यवर्ण में एक जाति है। संभव है कि इस जाति की विशिष्ट लिपि प्राचीनकाल में प्रचलित रही हो, और उसे माहेश्वरी लिपि कहा जाता हो। अठारहवीं लिपि ब्राह्मीलिपि है। यह लिपि द्राविड़ों की रही होगी। नाम से स्पष्ट है कि पुलिंदलिपि का सम्बन्ध आदिवासी से रहा हो। मगर अभी तक यह सब अनुमान ही हैं। इनका सही स्वरूप निश्चित करने के लिए अधिक अन्वेषण अपेक्षित है। बौद्ध ग्रन्थ "ललितविस्तरा" में चौंसठ लिपियों के नाम आये हैं। उन नामों के साथ समवायांग में आये हुए लिपियों के वर्णन की तुलना की जा सकती है।

सौवें समवाय के बाद क्रमशः १५०-२००-२५०-३००-३५०-४०० ४५०-५०० यावत् १००० से २००० से १०००० से एक लाख, उस से ८ लाख और करोड़ की संख्या वाले विभिन्न विषयों का इन समवायों में संकलन किया गया है।

यहाँ पर हम कुछ प्रमुख विषयों के सम्बन्ध में ही चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं। भगवान् महावीर के तीर्थंकर भव से पूर्व छठे पोट्टिल के भव का वर्णन है। आवश्यक

निर्युक्ति[२२५] में प्रभु महावीर के सत्ताईस भवों का सविस्तृत वर्णन है। वहाँ पर नन्दन के जीव ने पोट्टिल के पास दीक्षा ग्रहण की और नन्दन के पहले के भवों में पोट्टिल का उल्लेख नहीं है और न यह उल्लेख आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति और महावीरचरियं आदि में कहीं आया है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत आगम की वृत्ति में यह स्पष्ट किया है कि पोट्टिल नामक राजकुमार का एक भव, वहाँ से देव हुए, द्वितीय भव। वहाँ से च्युत होकर क्षत्रानगरी में नन्दन नामक राजपुत्र हुए, यह तृतीय भव। वहाँ से देवलोक गये, यह चतुर्थ भव। वहाँ से देवानन्दा के गर्भ में आये, यह पाँचवाँ भव। और वहाँ से त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में लाये गये, यह छठा भव। इस प्रकार परिगणना करने से पोट्टिल का छठा भव घटित हो सकता है।

समवायांगसूत्र में आये तीर्थंकरों की माताओं के नामों से दिगम्बर परम्परा[२२६] में उन के नाम कुछ पृथक् रूप से लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं–मरुदेवी, विजयसेना, सुसेना, सिद्धार्था, मंगला, सुसीमा, पृथ्वीसेना, लक्ष्मणा, जयरामा (रामा), सुनन्दा, नन्दा (विष्णुश्री), जायावती (पाटला), जयश्यामा (शर्मा), शर्मा (रेवती), सुप्रभा (सुव्रता), ऐरा, श्रीकान्ता (श्रीमती) मित्रसेना, प्रजावती (रक्षिता), सोमा (पद्मावती), वपिल्ला (वप्रा), शिवादेवी, वामादेवी, प्रियकारिणी त्रिशला। आवश्यक निर्युक्ति[२२७] में भी उन के नाम प्राप्त हैं।

आगामी उत्सर्पिणी के तीर्थंकरों के नाम जो समवायांग में आये हैं, वही नाम प्रवचनसार में ज्यों के त्यों मिलते हैं। किन्तु लोकप्रकाश[२२८] में जो नाम आये हैं, वे क्रम की दृष्टि से पृथक् हैं। जिनप्रभसूरि कृत 'प्राकृत दिवाली कल्प' में उल्लिखित नामों और उनके क्रम में अन्तर है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आगामी चौबीसी के नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं :–

(१) श्री महापद्म	(२) सुरदेव	(३) सुपार्श्व
(४) स्वयंप्रभु	(५) सर्वात्मभू	(६) श्रीदेव
(७) कुलपुत्रदेव	(८) उदंकदेव	(९) प्रोष्ठिलदेव
(१०) जयकीर्ति	(११) मुनिसुव्रत	(१२) अरह
(१३) निष्पाप	(१४) निष्कषाय	(१५) विपुल
(१६) निर्मल	(१७) चित्रगुप्त	(१८) समाधिमुक्त
(१९) स्वयंभू	(२०) अनिवृत्त	(२१) जयनाथ
(२२) श्रीविमल	(२३) देवपाल	(२४) अनन्तवीर्य

दिगम्बर ग्रन्थों में अतीत चौबीसी के नाम भी मिलते हैं।[२२९]

प्रस्तुत समवायांग में कुलकरों का उल्लेख हुआ है। स्थानांग सूत्र में अतीत उत्सर्पिणी के दश कुलकरों के नाम आये हैं तो समवायांग में सात नाम हैं और नामों में भेद भी है। कुलकर उस युग के व्यवस्थापक हैं, जब मानव पारिवारिक, सामाजिक,

राजशासन और आर्थिक बन्धनों से पूर्णतया मुक्त था। न उसे खाने की चिन्ता थी, न पहनने की ही। वृक्षों से ही उन्हें मनोवाञ्छित वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थीं। ये स्वतन्त्र जीवन जीने वाले थे। स्वभाव की दृष्टि से अत्यन्त अल्पकषायी। उस युग में जंगलों में हाथी, घोड़े, गाय, बैल पशु थे, पर उन पशुओं का वे उपयोग नहीं करते थे। आर्थिक दृष्टि से न कोई श्रेष्ठी था, न कोई अनुचर ही। आज की भाँति रोगों का त्रास नहीं था। जीवन भर वे वासनाओं से मुक्त रहते थे। जीवन की सान्ध्यबेला में वे भाई-बहन मिटकर पति-पत्नी के रूप में हो जाते थे। और एक पुरुष और स्त्री युगल के रूप में सन्तान को जन्म देते थे। उनका वे ४९ दिन तक पालन-पोषण करते और मरण-शरण हो जाते थे। उनकी मृत्यु भी उबासी और छींक आते ही बिना कष्ट के हो जाती। इस तरह यौगलिक काल का जीवन था। तीसरे आरे के अन्त तक तृतीय विभाग में यौगलिक-मर्यादाएँ धीरे-धीरे विनष्ट होने लगती हैं। तृष्णाएँ बढ़ती हैं और कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने लगती है। उस समय व्यवस्था करने वाले कुछ विशिष्ट व्यक्ति पैदा होते हैं। उन्हें कुलकर की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। प्रथम कुलकर तृतीय आरा के $^{1}/_{8}$ पल्य जितना भाग अवशिष्ट रहने पर होते हैं। कुलकरों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थों में मतभेद रहे हैं।[२३०] अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र "ऋषभ" हुए जो प्रथम तीर्थंकर भी थे। उन के पुत्र भरत चक्रवर्ती हुए। तीर्थंकर ऋषभ ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया तो भारत चक्रवर्ती ने राज्य-चक्र का। चतुर्थ आरे में तेईस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव आदि महापुरुष उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समवायांग में जिज्ञासु साधकों के लिए और अनुसंधित्सुओं के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन है। वस्तु-विज्ञान, जैन-सिद्धान्त, एवं जैन-इतिहास की दृष्टि से यह आगम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें शताधिक विषय हैं। आधुनिक चिन्तक समवायांग में आये हुए गणधर गौतम की ९२ वर्ष की आयु और गणधर सुधर्मा की १०० वर्ष की आयु पढ़कर यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि समावायांग की रचना भगवान् महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात हुई है। हम उनके तर्क के समाधान में यह नम्र निवेदन करना चाहेंगे कि गणधरों की उम्र आदि विषयों का देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने इसमें संकलन किया है। स्थानांग की प्रस्तावना में मैंने इस प्रश्न पर विस्तार से चिन्तन भी किया है। यह पूर्ण ऐतिहासिक सत्य है कि यह आगम गणधरकृत हैं।

मुख्यरूप से यह आगम गद्यरूप में है पर कहीं-कहीं बीच-बीच में नामावली व अन्य विवरण सम्बन्धी गाथाएँ भी आई हैं। भाषा की दृष्टि से भी यह आगम महत्त्वपूर्ण है। कहीं-कहीं पर अलंकारों का प्रयोग हुआ है। संख्याओं के सहारे भगवान पार्श्व और उनके पूर्ववर्ती चौदहपूर्वी, अवधिज्ञानी और विशिष्ट ज्ञानी मुनियों का भी उल्लेख है, जो इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

■

समवायांग : तुलनात्मक अध्ययन

समवायांग सूत्र में विभिन्न विषयों का जितना अधिक संकलन हुआ है, उतना विषयों की दृष्टि से संकलन अन्य आगमों में कम हुआ है। भगवती सूत्र विषय बहुल है तो आकार की दृष्टि से भी विराट् है। समवायांग सूक्ष आकार की दृष्टि से बहुत ही छोटा है। जैसे विष्णु मुनि ने तीन पैर से विराट् विश्व को नाप लिया था, वैसे ही समवायांग की स्थिति है। यदि हम समवायांग सूत्र में आये हुए विषयों की तुलना अन्य आगम साहित्य से करें तो सहज ही यह ज्ञात होगा कि व्यवहार सूत्र[२३१] में यथार्थ ही कहा गया है कि स्थानांग और समवायांग का ज्ञाता ही आचार्य और उपाध्याय जैसे गौरवपूर्ण पद को धारण कर सकता है क्योंकि स्थानांग और समवायांग में उन सभी विषयों की संक्षेप में चर्चाऐं आ गयी हैं, आचार्य व उपाध्याय पद के लिये जिन का जानना अत्यधिक आवश्यक है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि जिनवाणी रूपी विराट् सागर को समवायांग रूपी गागर में भर दिया गया है। यही कारण है कि अन्य आगम साहित्य में इस की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देती है। अतः हम यहाँ पर बहुत ही संक्षेप में अन्य आगमों के आलोक में समवायांगगत विषयों की तुलना कर रहे हैं।

समवायांग और आचारांग

जिनवाणी के जिज्ञासुओं के लिए आचारांग का सर्वाधिक महत्त्व है। वह सबसे प्रथम अंग है–रचना की दृष्टि से और स्थापना की दृष्टि से भी। आचारांग रचनाशैली, भाषाशैली व विषयवस्तु की दृष्टि से अद्‌भुत है। आचार और दर्शन दोनों ही दृष्टि से उसका महत्त्व है। हम समवायांग की आचारांग के साथ संक्षेप में तुलना कर रहे हैं।

समवायांग के प्रथम समवाय का तृतीय सूत्र है–एगे दण्डे तो आचारांग[२३२] में भी इसका उल्लेख है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का द्वितीय सूत्र–'पंच महव्वया पण्णत्ता ' ' है तो आचारांग[२३३] में भी यह निरूपण है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का तृतीय सूत्र–'पंच कामगुणा पण्णत्ता ' ' है तो आचारांग[२३४] में भी इसका प्रतिपादन हुआ है।

समवायांग के पाँचवें समवाय में छठा सूत्र–'पंच निजरट्ठाणा पण्णत्ता ' ' है तो आचारांग[२३५] में भी यह वर्णन प्राप्त है।

समवायांग के छठे समवाय का द्वितीय सूत्र–'छ जीवनिकाया पण्णत्ता ' ' ' है। तो आचारांग[२३६] में भी इसका निरूपण है।

समवायांग के सातवें समवाय का तृतीय सूत्र–'समणे भगवं महावीरे सत्तरयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ' ' ' ' है तो आचारांग[२३७] में भी महावीर की अवगाहना का यही वर्णन है।

समवायांग के नवम समवाय का तृतीय सूत्र–''नव बंभचेरा पण्णत्ता ' ' ' है तो आचारांग[२३८] में भी ब्रह्मचर्य का वर्णन प्राप्त है।

समवायांग के पच्चीसवें समवाय का पहला सूत्र–''पुरिम-पच्छिमगाणं तित्थगराणं पंच-जामस्स पणवीसं भावणाओ पण्णत्ताओ ' ' ' है तो आचारांग[२३९] में भी पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का उल्लेख हुआ है।

समवायांग के तीसवें समवाय में ''समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं आगारवासमज्झे वसित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ' ' ' ' तो आचारांग[२४०] में भी भगवान् महावीर की दीक्षा का यही वर्णन है।

समवायांग के एकावनवें समवाय का प्रथम सूत्र है–'मुणिसुव्वयस्स णं अरहओ पण्णासं अज्जिया साहस्सीओ होत्था ' ' ' ' ' है तो आचारांग[२४१] में भी मुनिसुव्रत की आर्यिकाओं का वर्णन है।

समवायांग सूत्र के बयासीवें समवाय का द्वितीय सूत्र है 'समणे भगवं महावीरे बासीए राइंदिएहिं वीइक्कंतेहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए[२४२] ' ' ' ' ' ' तो आचारांग[२४३] में भी भगवान् महावीर के गर्भ-परिवर्तन का उल्लेख है।

समवायांग के बानवेवें समवाय का प्रथम सूत्र है– बाणउई पडिमाओ पण्णत्ताओ ' ' ' ' ' तो आचारांग[२४४] में भी बानवें प्रतिमाओं का उल्लेख हुआ है।

समवायांग के सूत्रों के साथ आचारांगगत विषयों का जो साम्य है, वह यहाँ पर निर्दिष्ट किया गया है।

समवायांग और सूत्रकृतांग

सूत्रकृतांग द्वितीय अंग है। आचारांग में मुख्य रूप से आचार की प्रधानता रही है तो सूत्रकृतांग में दर्शन की प्रधानता है। महावीर युगीन दर्शनों की स्पष्ट झांकी इसमें है। आचारांग की तरह यह भी भाव-भाषा और शैली की दृष्टि से अलग-थलग विलक्षणता लिए हुए है। संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत है–समवायांग के साथ सूत्रकृतांग की तुलना।

समवायांग के प्रथम समवाय का नवम सूत्र है–'एगे धम्मे' तो सूत्रकृतांग[२४५] में भी इस धर्म का उल्लेख है।

समवायांग के प्रथम समवाय का दशवां सूत्र है–'एगे अधम्मे' तो सूत्रकृतांग[२४६] में भी यही वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र है–"एगे पुण्णे" तो सूत्रकृतांग[२४७] में भी पुण्य का वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का बारहवाँ सूत्र है–"एगे पावे" तो सूत्रकृतांग[२४८] में भी पाप का निरूपण हुआ है।

समवायांग के प्रथम समवाय का तेरहवां सूत्र है "एगे बंधे" तो सूत्रकृतांग[२४९] में भी बन्ध का वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का चौदहवां सूत्र है–"एगे मोक्खे" तो सूत्रकृतांग[२५०] में भी मोक्ष का उल्लेख है।

समवायांग के प्रथम समवाय का पन्द्रहवां सूत्र है–"एगे आसवे" तो सूत्रकृतांग[२५१] में भी आश्रव का निरूपण है।

समवायांग के प्रथम समवाय का सोलहवां सूत्र–'एगे संवरे' है तो सूत्रकृतांग[२५२] में भी संवर की प्ररूपणा हुई है।

समवायांग के प्रथम समवाय का सत्रहवां सूत्र–"एगा वेयणा" है तो सूत्रकृतांग[२५३] में भी वेदना का वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का अठारहवां सूत्र है–"एगा निज्जरा" तो सूत्रकृतांग[२५४] में भी निर्जरा का वर्णन है।

समवायांग के द्वितीय समवाय का प्रथम सूत्र–"दो दण्डा पण्णत्ता" है तो सूत्रकृतांग[२५५] में भी अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड का वर्णन है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का प्रथम सूत्र–"तेरस किरियाठाणा पण्णत्ता ...." है तो सूत्रकृतांग[२५६] में भी क्रियाओं का वर्णन है।

समवायांग के बावीसवें समवाय का प्रथम सूत्र है–"बावीसं परीसहा पण्णत्ता" तो सूत्रकृतांग[२५७] में भी परीषहों का वर्णन है।

इस तरह समवायांग और सूत्रकृतांग में अनेक विषयों की समानता है।

स्थानांग और समवायांग ये दोनों आगम एक शैली में निर्मित हैं। अतः दोनों में अत्यधिक विषयसाम्य है। इन दोनों की तुलना स्थानांगसूत्र की प्रस्तावना में की जा चुकी है, अतएव यहाँ उसे नहीं दोहरा रहे हैं। जिज्ञासुजन उस प्रस्तावना का अवलोकन करें।

समवायांग और भगवती

समवायांग और भगवती इन दोनों आगमों में भी अनेक स्थलों पर विषय में सदृशता है। अतः यहाँ समवायांगगत विषयों का भगवती के साथ तुलनात्मक अध्ययन दे रहे हैं।

समवायांग के प्रथम समवाय का प्रथम सूत्र है–"एगे आया" तो भगवती[२५८] में भी चैतन्य गुण की दृष्टि से आत्मा एक स्वरूप प्रतिपादित किया है।

समवायांग के प्रथम समवाय का द्वितीय सूत्र है–"एगे अणाया" तो भगवती[२५९] सूत्र में भी अनुपयोग लक्षण की दृष्टि से अनात्मा का एक रूप प्रतिपादित है।

समवायांग के प्रथम समवाय का चतुर्थ सूत्र है 'एगे अदण्डे' तो भगवती[२६०] में भी प्रशस्त योगों का प्रवृत्तिरूप व्यापार–अदण्ड को एक बताया है।

समवायांग के प्रथम समवाय का पांचवाँ सूत्र है 'एगा किरिया' तो भगवती[२६१] में भी योगों की प्रवृत्ति रूप क्रिया एक है।

समवायांग के प्रथम समवाय का छठा सूत्र है 'एगा अकिरिया' तो भगवती[२६२] में भी योगनिरोधरूप अक्रिया एक मानी है।

समवायांग के प्रथम समवाय का सातवाँ सूत्र है 'एगे लोए' तो भगवती[२६३] में भी धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का आधारभूत लोकाकाश एक प्रतिपादित किया है।

समवायांग के प्रथम समवायं का आठवाँ सूत्र है 'एगे अलोए' तो भगवती[२६४] में भी धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के अभावरूप अलोकाकाश का वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का छब्बीसवाँ सूत्र है 'इमीसे णं रयणप्पहाए पुढवीए ·····" तो भगवती[२६५] में भी रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के कुछ नारकों की स्थिति एक पल्योपम की बतायी है।

समवायांग सूत्र के प्रथम समवाय का सत्ताईसवाँ सूत्र है–'इमीसे णं ····· तो भगवती[२६६] में भी रत्नप्रभा-नारकों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का उनतीसवाँ सूत्र है–'असुरकुमाराणं देवाणं ·····" तो भगवती[२६७] में भी असुरकुमार देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का तीसवाँ सूत्र है–'असुरकुमाराणं ·····" तो भगवती[२६८] में भी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के प्रथम समवाय का इकत्तीसवाँ सूत्र है–'असुरकुमारिंद ····

तो भगवती[२६९] में भी असुरकुमारेन्द्र को छोड़कर कुछ भवनपति देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का बत्तीसवाँ सूत्र है–'असंखिज्जवासाउय ·····" तो भगवती[२७०] में भी असंख्य वर्ष की आयु वाले गर्भज तिर्यंचों की स्थिति एक पल्योपम की बताई है।

समवायांग के प्रथम समवाय का तेतीसवाँ सूत्र है–'असंखिज्ज वासाउय ·····" तो भगवती[२७१] में भी असंख्य वर्षों की आयुवाले कुछ गर्भज मनुष्यों की स्थिति एक पल्योपम की बताई है।

समवायांग के प्रथम समवाय का चौंतीसवाँ सूत्र है–'वाणमंतराणं देवाणं.....', तो भगवती[२७२] में भी वाणव्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का पैंतीसवाँ सूत्र है 'जोइसियाणं.....' तो भगवती[२७३] में भी ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम अधिक लाख वर्ष की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का छत्तीसवाँ सूत्र है–'सोहम्मे कप्पे देवाणं.....', तो भगवती सूत्र[२७४] में भी सौधर्मकल्प के देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का सैंतीसवाँ सूत्र है–'सोहम्मे कप्पे.....' तो भगवती सूत्र[२७५] में भी सौधर्म कल्प के कुछ देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का अड़तीसवाँ सूत्र है–'ईसाणे कप्पे देवाणं.....', तो भगवती सूत्र[२७६] में भी ईशान कल्प के देवों की जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का उनचालीसवाँ सूत्र है–'ईसाणे कप्पे देवाणं.....', तो भगवती[२७७] सूत्र में भी ईशान कल्प के देवों की स्थिति एक सागरोपम की कही है।

समवायांग के प्रथम समवाय का तेतालीसवाँ सूत्र है–संतेगइया भवसिद्धिया.....', तो भगवती सूत्र[२७८] में भी इसका वर्णन है।

समवायांग के तृतीय समवाय का तेरहवाँ सूत्र है–ईमीसे णं रयणप्पहाए..... तो भगवती सूत्र[२७९] में भी रत्न प्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति तीन पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के तृतीय समवाय का चौदहवाँ सूत्र है–दोच्चाए णं पुढवीए.....तो भगवती[२८०] में भी शर्कराप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के तृतीय समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र है–तच्चाए णं पुढवीए.....तो भगवती[२८१] में भी बालुकाप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के तृतीय समवाय का सोलहवाँ सूत्र है–असुरकुमाराणं देवाणं....इसी तरह भगवती[२८२] में भी कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति तीन पल्योपम की कही है।

समवायांग सूत्र के तृतीय समवाय का सत्रहवाँ सूत्र है–असंखिज्जवासाउय.....', तो भगवती[२८३] में भी असंख्य वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की बतायी है।

समवायांग सूत्र के तृतीय समवाय का अठारहवाँ सूत्र–असंखिज्जवासाउय..... है तो भगवती[२८४] में भी असंख्य वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के तृतीय समवाय का उन्नीसवाँ सूत्र है–सोहम्मीसाणेसु..... तो भगवती[२८५] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति यही कही है।

समवायांग के तृतीय समवाय का बीसवाँ सूत्र है–सणंकुमार-माहिंदेसु..... तो भगवती[२८६] में भी सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के कुछ देवों की स्थिति तीन सागरोपम की कही है।

समवायांग के तृतीय समवाय का इक्कीसवाँ सूत्र–'जे देवा आभंकरं पभंकरं' है तो भगवती[२८७] में आभंकर प्रभंकर देवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के तृतीय समवाय का बाईसवाँ सूत्र–संतेगइया भवसिद्धिया.... है तो भगवती[२८८] में भी कुछ जीव तीन भव कर मुक्त होंगे, ऐसा वर्णन है।

समवायांग के चतुर्थ समवाय का दशवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए..... है तो भगवती[२८९] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति चार पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के चतुर्थ समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–तच्चाए णं पुढवीए..... है तो भगवती[२९०] में भी बालुका प्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति चार सागरोपम की कही है।

समवायांग के चतुर्थ समवाय का बारहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं..... है तो भगवती[२९१] में भी असुरकुमार देवों की चार पल्योपम की स्थिति प्रतिपादित है।

समवायांग सूत्र के चतुर्थ समवाय का तेरहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु..... है तो भगवती[२९२] में भी सौधर्म ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति चार पल्योपम की कही है।

समवायांग के चतुर्थ समवाय का चौदहवाँ सूत्र–सणंकुमार-माहिंदेसु..... है तो भगवती[२९३] में भी सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के कुछ देवों की स्थिति चार पल्योपम की कही है।

समवायांग के चतुर्थ समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–'जे देवा किट्ठिं सुकिट्ठिं.....' है तो भगवती[२९४] में भी कृष्टि, सुकृष्टि, आदि वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति चार सागरोपम की कही है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का छठा सूत्र–'पंच निज्जरट्ठाणा पण्णत्ता' है तो भगवती[२९५] में भी निर्जरा के प्राणातिपातविरति आदि पाँच स्थान बताये हैं।

समवायांग के पाँचवें समवाय का आठवाँ सूत्र–'पंच अत्थिकाया पण्णत्ता ·····' है तो भगवती[२९६] में भी धर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय बताये हैं।

समवायांग के पाँचवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–'इमीसे णं रयणप्पहाए ·····' है तो भगवती[२९७] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति पाँच पल्योपम की कही है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–'तच्चाए णं पुढवीए ····· है तो भगवती[२९८] में भी बालुकाप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति पाँच पल्योपम की कही है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का सोलहवाँ सूत्र–'असुरकुमाराणं देवाणं ····· है तो भगवती[२९९] में भी असुरकुमार देवों की स्थिति पाँच पल्योपम की कही है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का सत्रहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु ····· है तो भगवती[३००] में भी सौधर्म ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति पाँच पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का अठारहवाँ सूत्र–सणंकुमार-माहिंदेसु ····· है तो भगवती[३०१] में भी सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के कुछ देवों की स्थिति पाँच सागरोपम की कही है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का उन्नीसवाँ सूत्र–'जे देवा वायं सुवायं ·····' है तो भगवती[३०२] में भी वात-सुवात आदि वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति पाँच सागर की कही है।

समवायांग के छठे समवाय का तृतीय सूत्र–'छव्विहे बाहिरे तवोकम्मे पण्णत्ते ····' है तो भगवती[३०३] में भी बाह्यतप के अनशन आदि छः भेद बताये हैं।

समवायांग के छठे समवाय का चौथा सूत्र –'छव्विहे अब्भितरे तवोकम्मे पण्णत्ते ·····' है तो भगवती[३०४] में भी छः आभ्यन्तर तप का वर्णन है।

समवायांग के छठे समवाय का पाँचवाँ सूत्र–छ छाउमत्थिया समुग्घाया ····· है तो भगवती[३०५] में भी छाद्मस्थिकों के छः समुद्घात बताए हैं।

समवायांग के छठे समवाय का दशवाँ सूत्र–"तच्चाए णं पुढवीए ····· " है तो भगवती[३०६] में भी बालुकाप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति छः सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के छठे समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–"असुरकुमाराणं ····· है तो भगवती[३०७] में भी कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति छः पल्योपम की प्रतिपादित है।

समवायांग के छठे समवाय का बारहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ..... है तो भगवती[३०८] में भी सौधर्म ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति छः पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के छठे समवाय का तेरहवाँ सूत्र है–सणंकुमारमाहिंदेसु ..... तो भगवती[३०९] में भी सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के कुछ देवों की स्थिति छः पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के छठे समवाय का चौदहवाँ सूत्र है–जे देवा सयंभूरमणं ..... तो भगवती[३१०] में भी स्वयंभूरमण विमान में उत्पन्न होने वालों की उत्कृष्ट स्थिति छः सागर की कही है।

समवायांग के छठे समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र है–तेणं देवा, छण्हं अद्धमासाणं ..... तो भगवती[३११] में भी स्वयंभू आदि विमानों के देव छः पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं, ऐसा वर्णन है।

समवायांग के छठे समवाय का सोलहवाँ सूत्र है–तेसिं णं देवाणं ..... तो भगवती[३१२] में भी स्वयंभू यावत् विमानवासी देवों की इच्छा आहार लेने की छः हजार वर्ष के बाद होती है।

समवायांग के सातवें समवाय का तृतीय सूत्र है–"समणे भगवं ....." तो भगवती[३१३] में भी श्रमण भगवान् महावीर सात हाथ के ऊँचे कहे गए हैं।

समवायांग के सातवें समवाय का बारहवाँ सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पहाए णं ..... तो भगवती[३१४] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति सात पल्योपम की प्रतिपादित है।

समवायांग के सातवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र है–तच्चाए णं पुढवीए ..... तो भगवती[३१५] में भी बालुकाप्रभा के कुछ नैरयिकों की स्थिति सात सागरोपम की वर्णित है।

समवायांग के सातवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–चउत्थीए णं पुढवीए ..... है तो भगवती[३१६] में भी पंकप्रभा नैरयिकों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की कही है।

समवायांग के सातवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं ..... है तो भगवती[३१७] में भी कुछ असुरकुमारों की स्थिति सात पल्योपम की वर्णित है।

समवायांग के सातवें समवाय का सोलहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ..... है तो भगवती[३१८] में भी सौधर्म ईशान कल्प की स्थिति सात पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के सातवें समवाय का सत्रहवाँ सूत्र–सणंकुमारं कप्पे देवाणं ..... है तो भगवती[३१९] में भी सनत्कुमार देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के सातवें समवाय का अठारहवाँ सूत्र–माहिंदे कप्पे देवाणं ..... है तो भगवती[३२०] में भी माहेन्द्र कल्प के देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के सातवें समवाय का उन्नीसवाँ सूत्र–बंभलोए कप्पे ..... है तो भगवती[३२१] में भी ब्रह्म लोक के देवों की स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम की कही है।

समवायांग के सातवें समवाय का बीसवाँ सूत्र–जे देवा समं समप्पभं ..... है तो भगवती[३२२] में भी सम, समप्रभ, महाप्रभ, आदि देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की कही है।

समवायांग के सातवें समवाय का इक्कीसवाँ सूत्र–ते णं देवा सत्तण्हं ..... है तो भगवती[३२३] में भी सनत्कुमारावसंतक विमान में जो देव उत्पन्न होते हैं, वे सात पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते हैं, ऐसा कथन है।

समवायांग के सातवें समवाय का बाईसवाँ सूत्र है–तेसिं णं देवाणं ..... तो भगवती[३२४] में भी सनत्कुमारावसंतक देवों की आहार लेने की इच्छा सात हजार वर्ष से होती कही है।

समवायांग के आठवें समवाय का दसवाँ सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पभाए ..... है तो भगवती[३२५] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की स्थिति आठ पल्योपम की कही है।

समवायांग के आठवें समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–चउत्थीए पुढवीए .... है तो भगवती[३२६] में भी पंकप्रभा नैरयिकों की स्थिति आठ सागरोपम की कही है।

समवायांग के आठवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ..... है तो भगवती[३२७] में भी कुछ असुरकुमारों की स्थिति आठ पल्योपम की कही है।

समवायांग के आठवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ..... है तो भगवती[३२८] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के देवों की स्थिति आठ पल्योपम की कही है।

समवायांग के आठवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–बंभलोए कप्पे ..... है तो भगवती[३२९] में भी ब्रह्म लोक के देवों की स्थिति आठ सागरोपम की प्रतिपादित है।

समवायांग के आठवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–"ते देवा अच्चि ..... है तो भगवती[३३०] में भी अर्चि, अर्चिमाली आदि की उत्कृष्ट स्थिति आठ सागर की कही है।

समवायांग के आठवें समवाय का सोलहवाँ सूत्र–ते णं देवा अट्ठण्हं ..... है तो भगवती[३३१] में भी अर्चि आदि देव आठ पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

समवायांग के आठवें समवाय का सत्रहवाँ सूत्र है–तेसिं णं देवाणं अट्ठहिं ..... है तो भगवती[३३२] में भी अर्चि आदि देवों की आहार लेने की इच्छा आठ हजार वर्ष से होती कही है।

समवायांग के नवमें समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–दंसणावरणिज्जस्स ..... कम्मस्स है तो भगवती[३३३] में भी निद्रा, प्रचला, आदि दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ कही हैं।

समवायांग के नवमें समवाय का बारहवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... है तो भगवती[३३४] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की स्थिति नौ पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के नवमें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–चउत्थीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३३५] में भी पंकप्रभा के कुछ नैरयिकों की स्थिति नौ सागर की बतायी है।

समवायांग के नवमें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ..... है तो भगवती[३३६] में भी कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति नौ पल्योपम की कही है।

समवायांग के नवम समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ..... है तो भगवती[३३७] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति नौ पल्योपम की कही है।

समवायांग के नवम समवाय का सोलहवाँ सूत्र–बंभलोए कप्पे ..... है तो भगवती[३३८] में भी ब्रह्मलोक कल्प के कुछ देवों की स्थिति नौ सागरोपम की कही है।

समवायांग के नवम समवाय का सत्रहवाँ सूत्र–"जे देवा पम्हं सुपम्हं ..... है तो भगवती[३३९] में भी पक्ष्म, सुपक्ष्म, पक्ष्मावर्त आदि देवों की उत्कृष्ट स्थिति नौ सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के नवम समवाय का अठारहवाँ सूत्र–ते णं देवा नवण्हं ..... है तो भगवती[३४०] में भी पक्ष्म, आदि देव नौ पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते हैं, ऐसा कथन है।

समवायांग के नवम समवाय का उन्नीसवाँ सूत्र–तेसिं णं देवाणं ..... है तो भगवती[३४१] में भी पक्ष्म, सुपक्ष्म आदि देवों को आहार लेने की इच्छा नौ हजार वर्ष से होती कही है।

समवायांग के दशम समवाय का नौवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... है तो भगवती[३४२] में भी रत्नप्रभा नैरयिकों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की कही गई है।

समवायांग के दशम समवाय का दशम सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... है तो भगवती[३४३] में भी रत्नप्रभा के कुछ नैरयिकों की स्थिति दस पल्योपम की कही है।

समवायांग के दशम समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–चउत्थीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३४४] में भी पंकप्रभा पृथ्वी में दस लाख नारकावास कहे हैं, ऐसा वर्णन है।

समवायांग के दशवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–चउत्थीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३४५] में भी पंकप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के दशवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–पंचमीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३४६] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम की कही है।

समवायांग के दशवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ..... है तो भगवती[३४७] में भी कुछ असुरकुमार देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की प्ररूपित है।

समवायांग के दशवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–असुरिंदवज्जाणं ..... है तो भगवती[३४८] में भी असुरेन्द्र को छोड़कर शेष भवनपति देवों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की कही है।

समवायांग के दशवें समवाय का सोलहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ..... है तो भगवती[३४९] में भी असुरकुमार देवों की स्थिति दस पल्योपम की कही है।

समवायांग के दशवें समवाय का सत्रहवाँ सूत्र–बायरवणस्सइकाइए ..... है तो भगवती[३५०] में भी प्रत्येक वनस्पति की उत्कृष्ट स्थिति दश हजार वर्ष कही है।

समवायांग के दशवें समवाय का अठारहवाँ सूत्र–वाणमंतराणं देवाणं ..... है तो भगवती[३५१] में भी व्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की बतायी है।

समवायांग के दशवें समवाय का उन्नीसवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ..... है तो भगवती[३५२] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति दश पल्योपम की कही है।

समवायांग के दशवें समवाय का बीसवाँ सूत्र–बंभलोए कप्पे ..... है तो भगवती[३५३] में भी ब्रह्मलोक देव की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के दशवें समवाय का इक्कीसवाँ सूत्र–लंतए कप्पे देवाणं ..... है तो भगवती[३५४] में भी लान्तक देवों की जघन्य स्थिति दस सागर की बतायी है।

समवायांग के दशवें समवाय का बाईसवाँ सूत्र–जे देवा घोसं सुघोसं ..... है तो भगवती[३५५] में भी घोष, सुघोष आदि देवों की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम की कही है।

समवायांग के दशवें समवाय का तेईसवाँ सूत्र–ते णं देवा णं अद्धमासाणं ..... है तो भगवती[३५६] में भी घोष यावत् ब्रह्मलोकावसंतक विमान के देव पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते कहे हैं।

समवायांग के दशवें समवाय का चौबीसवाँ सूत्र–तेसिं णं देवाणं ..... है तो भगवती[३५७] में भी घोष यावत् ब्रह्मलोकावसंतक के देवों की आहार लेने की इच्छा दश हजार वर्ष की कही है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का आठवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए .... है तो भगवती[३५८] में रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति ग्यारह पल्योपम की कही है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का नवम सूत्र–पंचमीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३५९] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति ग्यारह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का दशवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं..... है तो भगवती[३६०] में भी कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति ग्यारह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु..... है तो भगवती[३६१] में भी सौधर्म और ईशानकल्प के कुछ देवों की स्थिति ग्यारह पल्योपम की प्ररूपित है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–लंतए कप्पे ..... है तो भगवती[३६२] में भी लांतक कल्प के कुछ देवों की स्थिति ग्यारह सागरोपम की कही है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–जे देवा बंभं सुबंभं..... है तो भगवती[३६३] में भी ब्रह्म, सुब्रह्म आदि देवों की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–ते णं देवा ..... है तो भगवती[३६४] में भी ब्रह्म यावत् ब्रह्मलोकावसंतक देव ग्यारह पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते कहे हैं।

समवायांग के ग्यारहवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–तेसिं णं देवाणं ... ... है तो भगवती[३६५] में भी ब्रह्म ब्रह्मोत्तरावसंतक देवों की आहार लेने की इच्छा ग्यारह हजार वर्ष से होती बतलाई है।

समवायांग के बारहवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... है तो भगवती[३६६] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति बारह पल्योपम की कही है।

समवायांग के बारहवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–पंचमीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३६७] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति बारह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के बारहवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ... है तो भगवती[३६८] में कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति बारह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के बारहवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ... है तो भगवती[३६९] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति बारह पल्योपम की बताई है।

समवायांग के बारहवें समवाय का सोलहवाँ सूत्र–लंतए कप्पे अत्थेगइयाणं ..... है तो भगवती[३७०] में भी लांतक कल्प के कुछ देवों की स्थिति बारह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के बारहवें समवाय का सत्रहवाँ सूत्र–जे देवा माहिंद ..... है तो भगवती[३७१] में भी माहेन्द्रध्वज आदि देवों की उत्कृष्ट स्थिति बारह सागरोपम की कही है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का नवमाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... है तो भगवती[३७२] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति तेरह पल्योपम की कही है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का दशवाँ सूत्र–पंचमीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३७३] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति तेरह सागरोपम की प्रतिपादित है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ..... है तो भगवती[३७४] में कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति तेरह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ... .. है तो भगवती[३७५] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति तेरह पल्योपम की कही है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–लंतए कप्पे ..... है तो भगवती[३७६] में भी लांतक कल्प के कुछ देवों की स्थिति तेरह पल्योपम की कही है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–जे देवा वज्जं सुवज्जं ... है तो भगवती[३७७] में भी वज्र-सुवज्र आदि देवों की उत्कृष्ट स्थिति तेरह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–ते णं देवा ... ... है तो भगवती[३७८] में भी वज्र आदि लोकावतंसक देव तेरह पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते कहे हैं।

समवायांग के चौदहवें समवाय का प्रथम सूत्र–चउद्दस भूयग्गामा ..... है तो भगवती[३७९] में भी सूक्ष्म-बादर अपर्याप्त पर्याप्त आदि चौदह भूतग्राम बताये हैं।

समवायांग के चौदहवें समवाय का नववाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ··· ·· है तो भगवती[३८०] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति चौदह पल्योपम की कही है।

समवायांग के चौदहवें समवाय का दशवाँ सूत्र–पंचमीए पुढवीए ····· है तो भगवती[३८१] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति चौदह सागरोपम की कही है।

समवायांग के चौदहवें समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ··· है तो भगवती[३८२] में असुरकुमार देवों की स्थिति चौदह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के चौदहवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु ····· है तो भगवती[३८३] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति चौदह पल्योपम की कही है।

समवायांग के चौदहवें समवाय का तेरहवाँ सूत्र–लंतए कप्पे ····· है तो भगवती[३८४] में भी लांतक कल्प के कुछ देवों की उत्कृष्ट स्थिति चौदह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के चौदहवें समवाय का चौदहवाँ सूत्र–महासुक्के कप्पे ····· है तो भगवती[३८५] में भी महाशुक्र कल्प के देवों की जघन्य स्थिति चौदह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के चौदहवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र–जे देवा ····· है तो भगवती[३८६] में भी श्रीकान्त देवों की चौदह सागर की स्थिति कही है।

समवायांग के पन्द्रहवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र–चेत्तासोएसु णं मासेसु ···· ··· है तो भगवती[३८७] में भी छः नक्षत्र चन्द्र के साथ पन्द्रह मुहूर्तपर्यन्त योग करते हैं।

समवायांग के पन्द्रहवें समवाय का सातवाँ सूत्र–मणूसाणं ···· है तो भगवती[३८८] में भी मनुष्य के पन्द्रह योग कहे हैं।

समवायांग के पन्द्रहवें समवाय का आठवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ··· ·· है तो भगवती[३८९] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति पन्द्रह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के पन्द्रहवें समवाय का नवमा सूत्र–पंचमीए पुढवीए ··· ··· है तो भगवती[३९०] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति पन्द्रह सागरोपम की कही है।

समवायांग के पन्द्रहवें समवाय का दशवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं ···· है तो भगवती[३९१] में कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति पन्द्रह पल्योपम की कही है।

समवायांग के पन्द्रहवें समवायांग ग्यारहवाँ सूत्र–सोहम्मीसाणेसु ..... है तो भगवती[३९२] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के कुछ देवों की स्थिति पन्द्रह पल्योपम की कही है।

समवायांग के पन्द्रहवें समवाय का बारहवाँ सूत्र–महासुक्के कप्पे ..... है तो भगवती[३९३] में भी महाशुक्र कल्प के देवों की स्थिति पन्द्रह सागरोपम की कही है।

समवायांग के सोलहवें समवाय का आठवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... है तो भगवती[३९४] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति सोलह पल्योपम की कही है।

समवायांग के सोलहवें समवाय का नवम सूत्र–पंचमीए पुढवीए ..... है तो भगवती[३९५] में भी धूमप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति सोलह सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के सत्रहवें समवाय का छठा सूत्र–"इमीसे णं रयणप्पहाए ....." है तो भगवती[३९६] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के समभूभाग से कुछ अधिक सत्रह हजार योजन की ऊँचाई पर जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों की तिरछी गति कही है।

समवायांग के सत्रहवें समवाय का सातवाँ सूत्र है "चमरस्स णं असुरिंदस्स ....." तो भगवती[३९७] में भी चमर असुरेन्द्र के तिगिच्छकूट उत्पात पर्वत की ऊँचाई सत्रह सौ इक्कीस योजन की है।

समवायांग के सत्रहवें समवाय का आठवाँ सूत्र है "सत्तरसविहे मरणे पण्णत्ते ....." तो भगवती[३९८] में भी मरण के सत्रह प्रकार बताये हैं।

समवायांग के सत्रहवें समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–"इमीसे णं रयणप्पहाए ....." है तो भगवती[३९९] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति सत्रह पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के अठारहवें समवाय का आठवाँ सूत्र–पोसाSS साढेसु ..... है तो भगवती[४००] में भी पौष और आषाढ़ मास में एक दिन उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का होता है। तथा एक रात्रि अठारह मुहूर्त की होती कही है।

समवायांग के अठारहवें समवाय का नवमा सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ....." है तो भगवती[४०१] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति अठारह पल्योपम की कही है।

समवायांग के उन्नीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र–जंबुद्दीवे णं दीवे ..... है तो भगवती[४०२] में भी जम्बूद्वीप में सूर्य ऊँचे तथा नीचे उन्नीस सौ योजन तक ताप पहुँचाते कहे हैं।

समवायांग के उन्नीसवें समवाय का छठा सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए ''''''" है तो भगवती[४०३] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति उन्नीस पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के बीसवें समवाय का सातवाँ सूत्र–"उस्सप्पिणी ओसप्पिणी''''''" है तो भगवती[४०४] में भी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी मिलकर बीस कोटाकोटि सागरोपम का काल-चक्र कहा है।

समवायांग सूत्र के इक्कीसवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र–इमीसे णं रयणप्पहाए '''' है तो भगवती[४०५] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की स्थिति इक्कीस पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के बाईसवें समवाय का प्रथम सूत्र–"बाईसं परीसहा पण्णत्ता ''''''" है तो भगवती[४०६] में भी बाईस परीषहों का उल्लेख है।

समवायांग के बाईसवें समवाय का छठा सूत्र–बावीसविहे पोग्गलपरिणामे''''''''' है तो भगवती[४०७] में भी कृष्ण, नील, आदि पुद्गल के बाईस परिणाम कहे हैं।

समवायांग के बाईसवें समवाय का सातवाँ सूत्र– इमीसे णं रयणप्पहाए पुढवीए''''''''' है तो भगवती[४०८] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की बाईस पल्योपम की स्थिति बतायी है।

समवायांग के तेईसवें समवाय का छठा सूत्र–'अहे सत्तमाए पुढवीए '''' '' है तो भगवती[४०९] में भी तमस्तमा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति तेईस सागरोपम की कही है।

समवायांग के तेईसवें समवाय का सातवाँ सूत्र–असुरकुमाराणं देवाणं'''' है तो भगवती[४१०] में भी कुछ असुरकुमार देवों की स्थिति तेईस पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के चौबीसवें समवाय का प्रथम सूत्र–चउवीसं देवाहिदेवा '''' है तो भगवती[४११] में भी ऋषभ, अजित, संभव, आदि ये चौबीस देवाधिदेव कहे हैं।

समवायांग के चौबीसवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पहाए''' ''' तो भगवती[४१२] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति चौबीस पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के पच्चीसवें समवाय का दशवाँ सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पहाए''' ''' तो भगवती[४१३] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति पच्चीस पल्योपम की कही है।

समवायांग के छब्बीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–अभवसिद्धिया''''''' तो भगवती[४१४] में भी अभवसिद्धिक जीवों के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियाँ सत्ता में कही हैं।

समवायांग के छब्बीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पहाए ..... तो भगवती[४१५] में भी रत्नप्रभा-नैरयिकों की स्थिति छब्बीस पल्योपम की प्रतिपादित है।

समवायांग के अट्ठाईसवें समवाय का तृतीय सूत्र है आभिणिबोहियनाणे ..... तो भगवती[४१६] में भी आभिनिबोधिक ज्ञान २८ प्रकार का बताया है।

समवायांग के अट्ठाईसवें समवाय का छठा सूत्र– इमीसे णं रयणप्पहाए पुढवीए ..... है तो भगवती[४१७] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति अट्ठाईस पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के उनतीसवें समवाय का दशवाँ सूत्र है–इमीसे णं ..... तो भगवती[४१८] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति उनतीस पल्योपम की बतायी है।

समवायांग के तीसवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–समणे भगवं महावीरे ..... तो भगवती[४१९] में भी कहा है कि श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहकर प्रव्रजित हुए थे।

समवायांग के इकत्तीसवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–अहे सत्तमाए पुढवीए ..... तो भगवती[४२०] में भी तमस्तमा पृथ्वी के कुछ नैरयिकों की स्थिति इकत्तीस सागरोपम की बतायी है।

समवायांग के बत्तीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–बत्तीसं देविंदा पण्णत्ता ..... तो भगवती[४२१] में भी भवनपतियों के बीस, ज्योतिष्कों के दो, वैमानिकों के दश, इस तरह बत्तीस इन्द्र कहे हैं।

समवायांग के तेतीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–चमरस्स णं असुरिंदस्स ..... तो भगवती[४२२] में भी चमरेन्द्र की चमरचंचा राजधानी के प्रत्येक द्वार के बाहर तेतीस-तेतीस भौम नगर कहे हैं।

समवायांग के पैंतीसवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–सोहम्मे कप्पे सभाए ..... तो भगवती[४२३] में भी यही वर्णन है।

समवायांग के छत्तीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–चमरस्स णं असुरिंदस्स ..... तो भगवती[४२४] में भी चमरेन्द्र की सुधर्मा सभा छत्तीस योजन ऊँची बतायी है।

समवायांग के बियालीसवें समवाय का नवमाँ सूत्र है–एगमेगाए ओसप्पिणीए ..... तो भगवती[४२५] में भी यही वर्णन है।

समवायांग के छियालीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–बंभीए णं लिवीए ..... तो भगवती[४२६] में भी ब्राह्मी लिपि के छियालीस मातृकाक्षर कहे हैं।

समवायांग के एकावनवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–चमरस्स णं असुरिंदस्स ..... तो भगवती[४२७] में भी चमरेन्द्र की सुधर्मा सभा के एकावन सौ स्तम्भ कहे गये हैं।

समवायांग के बावनवें समवाय का प्रथम सूत्र है–मोहणिज्जस्स कम्मस्स ..... तो भगवती[४२८] में भी क्रोध, कोप, आदि मोहनीय कर्म के बावन नाम हैं।

समवायांग के छासठवें समवाय का छठा सूत्र है–आभिणोबोहिनाणस्स ..... तो भगवती[४२९] में भी आभिनिबोधिक ज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति छासठ सागरोपम कही है।

समवायांग के अठहत्तरवें समवाय का प्रथम सूत्र है–सक्कस्स णं देविंदस्स .... तो भगवती[४३०] में भी कहा है कि शक्र देवेन्द्र के वैश्रमण, सेनानायक के रूप में आज्ञा का पालन करते हैं।

समवायांग के इकासीवें समवाय का तीसरा सूत्र है–विवाहपन्नीए एकासीतिं ..... तो भगवती[४३१] में भी प्रस्तुत आगम के इक्यासी महायुग्म शतक कहे गये हैं।

इस तरह भगवती सूत्र में अनेक पाठों का समवायांग के साथ समन्वय है। कितने ही सूत्रों में नारक व देवों की स्थिति के सम्बन्ध में अपेक्षादृष्टि से पुनरावृत्ति भी हुई है अतः हमने उसे जानकर उसकी तुलना नहीं की है।

समवायांग और प्रश्नव्याकरण–

समवायांग और प्रश्नव्याकरण ये दोनों ही अंग सूत्र हैं। समवायांग में ऐसे अनेक स्थल हैं जिन की तुलना प्रश्नव्याकरण के साथ की जा सकती है। प्रश्नव्याकरण का प्रतिपाद्य विषय पाँच आस्रव और पाँच संवर है। इसलिये विषय की दृष्टि से यह सीमित है।

समवायांग के द्वितीय समवाय का तृतीय सूत्र है–दुविहे बंधणे ..... तो इसकी प्रतिध्वनि प्रश्नव्याकरण[४३२] में भी मुखरित हुयी है।

समवायांग के तृतीय समवाय का प्रथम सूत्र है–तओ दंडा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३३] में भी तीन दण्ड का उल्लेख है।

समवायांग के तृतीय समवाय का द्वितीय सूत्र है–तओ गुत्तीओ पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३४] में भी तीन गुप्तियों का उल्लेख हुआ है।

समवायांग के तृतीय समवाय का तृतीय सूत्र है–तओ सल्ला पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३५] में भी तीन शल्यों का वर्णन है।

समवायांग के तृतीय समवाय का चतुर्थ सूत्र है–तओ गारवा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३६] में भी गर्व के तीन भेद बताये हैं।

समवायांग सूत्र के तृतीय समवाय का पाँचवाँ सूत्र है– तओ विराहणा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३७] में भी तीन विराधनाओं का उल्लेख है।

समवायांग सूत्र के चतुर्थ समवाय का चतुर्थ सूत्र है–चत्तारि सण्णा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३८] में भी चार संज्ञाओं का वर्णन है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का दूसरा सूत्र है–पंच महव्वया पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४३९] में भी पाँच महाव्रतों का वर्णन है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–पंच आसवदारा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४४०] में भी पाँच आश्रवद्वारों का निरूपण हुआ है।

समवायांग के पाँचवें समवाय का पांचवाँ सूत्र है–पंच संवरदारा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४४१] में भी पाँच संवरद्वारों का विश्लेषण है।

समवायांग के सातवें समवाय का पहला सूत्र है–सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४४२] में भी सात भयस्थान बताये हैं।

समवायांग के आठवें समवाय का पहला सूत्र है–अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता ..... तो प्रश्नव्याकरण[४४३] में भी आठ मदस्थान बताये हैं।

समवायांग के नौवें समवाय का प्रथम सूत्र है–नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ .... तो प्रश्नव्याकरण[४४४] में भी नौ ब्रह्मचर्यगुप्तियों का उल्लेख है।

समवायांग सूत्र के नौवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–'नव बंभचेर-अगुत्तीओ पण्णत्ताओ' तो प्रश्नव्याकरण[४४५] में भी नौ ब्रह्मचर्य की अगुप्तियों का वर्णन है।

समवायांग सूत्र के दसवें समवाय का पहला सूत्र है–'दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते' तो प्रश्नव्याकरण[४४६] में भी श्रमणधर्म के दस प्रकार बताये हैं।

समवायांग सूत्र के ग्यारहवें समवाय का पहला सूत्र है–'एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ' तो प्रश्नव्याकरण[४४७] में भी उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख है।

समवायांग सूत्र के बारहवें समवाय का पहला सूत्र है–'बारस भिक्खु- पडिमाओ पण्णत्ताओ' तो प्रश्नव्याकरण[४४८] में भी बारह प्रकार की भिक्षु- प्रतिमाओं का उल्लेख हुआ है।

समवायांग सूत्र के सोलहवें समवाय का पहला सूत्र है–'सोलस य गाहासोलसगा पण्णत्ता' तो प्रश्नव्याकरण[४४९] में सूत्रकृतांग के सोलहवें अध्ययन का नाम गाथाषोडशक बताया है।

समवायांग सूत्र के सत्रहवें समवाय का पहला सूत्र है–'सत्तरसविहे असंजमे पण्णत्ते' तो प्रश्नव्याकरण[४५०] में भी सत्रह प्रकार के असंयम का प्रतिपादन है।

समवायांग सूत्र के अठारहवें समवाय का पहला सूत्र है–'अट्ठारसविहे बंभे पण्णत्ते' तो प्रश्नव्याकरण[४५१] में भी ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार बताये हैं।

समवायांग सूत्र के उन्नीसवें समवाय का पहला सूत्र है–'एगूणवीसं णायज्झयणा पण्णत्ता' तो प्रश्नव्याकरण[४५२] में भी ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययन बताये हैं।

समवायांग के तेईसवें समवाय का पहला सूत्र है 'तेवीसं सूयगडज्झयणा पण्णत्ता' तो प्रश्नव्याकरण[४५३] में भी सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों का सूचन है।

समवायांग के पच्चीसवें समवाय का पहला सूत्र है–'पुरिम-पच्छिमगाणं तित्थगराणं पंचजामस्स पणवीसं भावणाओ पण्णत्ताओ' तो प्रश्नव्याकरण[४५४] में भी प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं बताई हैं।

समवायांग के सत्ताईसवें समवाय का पहला सूत्र है–'सत्तवीसं अणगारगुणा पण्णत्ता' तो प्रश्नव्याकरण[४५५] में भी श्रमणों के सत्ताईस गुणों का प्रतिपादन किया है।

समवायांग के अट्ठाईसवें समवाय का प्रथम सूत्र है–'अट्ठावीसविहे आयारपकप्पे पण्णत्ते' तो प्रश्नव्याकरण[४५६] में भी आचारप्रकल्प के अट्ठाईस प्रकार बताये हैं।

समवायांग के उन्तीसवें समवाय का पहला सूत्र है–'एगूणतीसविहे पावसुयपसंगे' तो प्रश्नव्याकरण[४५७] में भी पापश्रुत के उन्तीस प्रसंग बताये हैं।

समवायांग के तीसवें समवाय का प्रथम सूत्र है–'तीसं मोहणीयठाणा पणत्ता' तो प्रश्नव्याकरण[४५८] में भी मोहनीय के तीस स्थानों का उल्लेख है।

समवायांग के इकत्तीसवें समवाय का पहला सूत्र है–'एकतीसं सिद्धाइगुणा पणत्ता' तो प्रश्नव्याकरण[४५९] में भी सिद्धों के इकत्तीस गुण कहे हैं।

समवायांग के तेतीसवें समवाय का पहला सूत्र है–'तेत्तीसं आसायणाओ पणत्ताओ ……' तो प्रश्नव्याकरण[४६०] में भी तेतीस आशातना का उल्लेख है।

इस तरह समावायांग और प्रश्नव्याकरण में अनेक स्थलों पर समान विषयों का निरूपण हुआ है।

समवायांग और औपपातिक

उपांग साहित्य में प्रथम उपांग सूत्र "औपपातिक" है। समवायांग में कुछ विषय ऐसे हैं जिन की सहज रूप से तुलना औपपातिक के साथ की जा सकती है। हम उन्हीं पर यहाँ पर प्रकाश डाल रहे हैं।

समवायांग के प्रथम समवाय का छठा सूत्र है–'एगा अकिरिया' तो औपपातिक[४६१] में भी इसका वर्णन प्राप्त है।

समवायांग के प्रथम समवाय का सातवाँ सूत्र है–'एगे लोए' तो औपपातिक[४६२] में भी लोक के स्वरूप का प्रतिपादन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का आठवाँ सूत्र है–'एगे अलोए' तो औपपातिक[४६३] में भी अलोक का वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय का ग्यारहवाँ सूत्र–'एगे पुण्णे' है तो औपपातिक[४६४] में भी पुण्य के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

समवायांग के प्रथम समवाय का बारहवाँ सूत्र–'एगे पावे' है तो औपपातिक[४६५] में भी पाप का वर्णन है।

समवायांग के प्रथम समवाय में बन्ध, मोक्ष, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा का कथन है तो औपपातिक[४६६] में भी उक्त विषयों का निरूपण हुआ है।

समवायांग के चतुर्थ समवाय का दूसरा सूत्र है–'चत्तारि झाणा पण्णत्ता' तो औपपातिक[४६७] में भी ध्यान के इन चार प्रकारों का निरूपण हुआ है।

समवायांग के छठे समवाय का तीसरा सूत्र है–'छव्विहे बाहिरे तवोकम्मे' और चौथा सूत्र है 'छव्विहे अब्भितरे तवोकम्मे .....' तो औपपातिक[४६८] में छह बाह्य और छह आभ्यंतर तपों का उल्लेख है।

समवायांग के सातवें समवाय का तीसरा सूत्र है–'समणे भगवं महावीरे सत्त रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था' तो औपपातिक[४६९] में भी महावीर के सात हाथ ऊँचे होने का वर्णन है।

समवायांग के आठवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–'अट्ठसामइए केवलिसमुग्घाए .....' तो औपपातिक[४७०] में भी केवलीसमुद्घात का उल्लेख है।

समवायांग के बारहवें समवाय का दसवाँ सूत्र है–'सव्वट्ठसिद्धस्स णं महाविमाणस्स .....' और ग्यारहवाँ सूत्र 'ईसिपब्भाराए णं पुढवीए' तो औपपातिक[४७१] में भी ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का वर्णन है और उसके बारह नाम बताये हैं।

समवायांग के चौंतीसवें समवाय का पहला सूत्र है– 'चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णत्ता .....' तो औपपातिक[४७२] में भी बुद्धातिशय के चौंतीस भेद बताये हैं।

समवायांग के पैंतीसवें समवाय का पहला सूत्र है–'पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता' तो औपपातिक[४७३] में भी सत्य-वचनातिशय पैंतीस बताये हैं।

समवायांग के पैंतालीसवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–'ईसिपब्भारा णं पुढवी एवं चेव' तो औपपातिक[४७४] में भी 'ईषत् प्राग्भारा' पृथ्वी का आयाम-विष्कंभ पैंतालीस लाख योजन का बताया है।

समवायांग सूत्र के इक्कानवे समवाय का पहला सूत्र है– 'एकाणउई पवेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ' तो औपपातिक[४७५] में भी दूसरे की वैयावृत्य करने की प्रतिज्ञाएँ एक्कानवें बताई हैं।

इस तरह समवायांग और औपपातिक में विषयसाम्य है।

समवायांग और जीवाभिगम

समवायांग में आये हुए कुछ विषयों की तुलना अब हम तृतीय उपाङ्ग जीवाभिगम सूत्र के साथ करेंगे।

समवायांग के द्वितीय समवाय का दूसरा सूत्र है–'दुवे रासी पण्णत्ता' तो जीवाभिगम[४७६] में भी दो राशियों का उल्लेख है।

समवायांग के छठे समवाय का द्वितीय सूत्र है–'छ जीव-निकाया पण्णत्ता' तो जीवाभिगम[४७७] में भी यह वर्णन है।

समवायांग के नौवें समवाय का नौवाँ सूत्र है–'विजयस्स णं दारस्स एगमेगाए बाहाए नव-नव भोमा पण्णत्ता' तो जीवाभिगम[४७८] में भी विजयद्वार के प्रत्येक पार्श्वभाग में नौ नौ भौम नगर हैं, ऐसा उल्लेख है।

समवायांग के नौवें समवाय में दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ कही हैं तो जीवाभिगम[४७९] में भी दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियाँ कही हैं।

समवायांग के बारहवें समवाय का चौथा सूत्र है– 'विजया णं रायहाणी दुवालस ..... तो जीवाभिगम[४८०] में भी विजया राजधानी का आयाम-विष्कम्भ बारह लाख योजन का प्रतिपादन किया है।

समवायांग के तेरहवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'जलयर- पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिआणं .....'' तो जीवाभिगम[४८१] में भी जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय की साढे तेरह लाख कुलकोटियाँ कही हैं।

सत्रहवें समवाय का तृतीय सूत्र है–'माणुसुत्तरे णं पव्वए सत्तरस .....'' तो जीवाभिगम[४८२] में भी मानुषोत्तर पर्वत की ऊंचाई सत्रह सौ इक्कीस योजन की कही है।

सत्रहवें समवाय का चौथा सूत्र है–सव्वेसिं पि णं वेलंधर ..... तो जीवाभिगम[४८३] में भी सर्व वेलंधर और अणुवेलंधर नागराजों के आवासपर्वतों की ऊँचाई सत्रह सौ इक्कीस योजन की बतायी है।

समवायांग के सत्रहवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'लवणे णं समुद्दे .....'' तो जीवाभिगम[४८४] में भी लवणसमुद्र के पेंदे से ऊपर की सतह की ऊंचाई सत्तर हजार योजन की बताई है।

अठारहवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–धूमप्पहाए णं ..... तो जीवाभिगम[४८५] में भी धूमप्रभा पृथ्वी का विस्तार एक लाख अठारह हजार योजन का बताया है।

पच्चीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–दोच्चाए णं पुढवीए ..... तो जीवाभिगम[४८६] में भी शर्कराप्रभा पृथ्वी में पच्चीस लाख नारकावास बताये हैं।

सत्ताईसवें समवाय का चौथा सूत्र है–सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ''''''' तो जीवाभिगम[४८७] में भी सौधर्म और ईशान कल्प में अट्ठाईस लाख विमान बताये हैं।

चौंतीसवें समवाय का छठा सूत्र है–पढम-पंचम ''''''' तो जीवाभिगम[४८८] में भी पहली, पांचवीं, छठी और सातवीं इन चार पृथ्वियों में चौंतीस लाख नारकावास बताये हैं।

पैंतीसवें समवाय का छठा सूत्र है–बितिय-चउत्थीसु '''' तो जीवाभिगम[४८९] में भी दूसरी और चौथी–इन दो पृथ्वियों में पैंतीस लाख नारकावास बताये हैं।

सैंतीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–सव्वासु णं विजय ''''''' तो जीवाभिगम[४९०] में भी विजय-वैजयन्त और अपराजिता इन सब राजधानियों के प्राकारों की ऊँचाई सैंतीस योजन की बतायी है।

सैंतीसवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–खुड्डियाए णं विमाणं ''''''' तो जीवाभिगम[४९१] में भी क्षुद्रिका विमान प्रविभक्ति के प्रथम वर्ग में सैंतीस उद्देशन काल कहे हैं।

उनचालीसवें समवाय का तृतीय सूत्र है–दोच्च-चउत्थं '''' तो जीवाभिगम[४९२] में भी दूसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं इन पांच पृथ्वियों में उनचालीस लाख नारकावास बताये हैं।

इकतालीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–चउसु पुढवीसु ''''''' तो जीवाभिगम[४९३] में भी चार पृथ्वियों में इकतालीस लाख नारकावास बताये हैं।

बयालीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–कालोए णं समुद्दे ''''''' तो जीवाभिगम[४९४] में भी कालोद समुद्र में बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य बताये हैं।

बयालीसवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–लवणे णं समुद्दे ''''''' तो जीवाभिगम[४९५] में भी लवणसमुद्र की आभ्यन्तर बेला को बयालीस हजार नागदेवता धारण करते बताये हैं।

तेतालीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–पढम-चउत्थ ''''''' तो जीवाभिगम[४९६] में भी पहली, चौथी और पाँचवीं और इन तीन पृथ्वियों में तेतालीस लाख नारकावास बताये हैं।

पैंतालीसवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–सीमंतए णं नरए ''''''' तो जीवाभिगम[४९७] में भी सीमान्तक नारकावास का आयाम-विष्कम्भ पैंतालीस लाख योजन का बताया है।

पचपनवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–मंदरस्स णं पव्वयस्स ''''''' तो जीवाभिगम[४९८] में भी मेरु पर्वत के पश्चिमी चरमान्त से विजय द्वार के पश्चिमी चरमान्त का अव्यवहित अन्तर पचपन हजार योजन का बताया है।

साठवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–लवणस्स समुद्दस्स ....." तो जीवाभिगम[४९९] में भी लवण समुद्र के अग्रोदक को साठ हजार नागदेवता धारण करते हैं, ऐसा उल्लेख है।

चौंसठवें समवाय का चौथा सूत्र है–सव्वे वि णं दहीमुहा पव्वया ....." तो जीवाभिगम[५००] में भी सभी दधिमुख पर्वत माला के आकार वाले हैं। अतः उन का विष्कम्भ सर्वत्र समान है, उन की ऊँचाई चौंसठ हजार योजन की है।

छासठवें समवाय का प्रथम सूत्र है–दाहिणड्ढ-माणुस्स-खेत्ताणं, द्वितीय सूत्र है छावट्ठिं सूरिया तविंसु, तृतीय सूत्र है–उत्तरड्ढ माणुस्स खेत्ताणं ...., चतुर्थ सूत्र है छावट्ठिं सूरिया तविंसु वा ३, तो जीवाभिगम[५०१] में भी दक्षिणार्ध मनुष्य क्षेत्र में छासठ-छासठ चन्द्र और सूर्य बताये हैं।

सड़सठवें समवाय का तृतीय सूत्र है–'मंदरस्स णं पव्वयस्स ....." तो जीवाभिगम[५०२] में भी मेरुपर्वत के चरमान्त से गौतमद्वीप के पूर्वी चरमान्त का अव्यवहित अन्तर सड़सठ हजार योजन का कहा है।

उनहत्तरवें समवाय का प्रथम सूत्र है–समयखित्ते णं मंदरवज्जा ....." तो जीवाभिगम[५०३] में भी लिखा है 'समयक्षेत्र में मेरु को छोड़कर उनहत्तर वर्ष और वर्षधर पर्वत हैं, जैसे–पैंतीस वर्ष, तीस वर्षधर पर्वत और चार इषुकार पर्वत।

बहत्तरवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'बावत्तरिं सुवन्नकुमारावास ....." तो जीवाभिगम[५०४] में भी सुवर्ण-कुमारावास बहत्तर लाख बताये हैं।

बहत्तरवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'अब्भितरपुक्खरद्धे णं ....." तो जीवाभिगम[५०५] में भी बहत्तर चन्द्र और सूर्य का वर्णन प्राप्त है।

उनासीवें समवाय का पहला सूत्र 'वलयामुहस्स ....." दूसरा सूत्र 'एवं केउस्सवि ....." तृतीय सूत्र छट्ठीए पुढवीए ....और चतुर्थ सूत्र 'जम्बुद्दीवस्स णं दीवस्स ....." है तो जीवाभिगम[५०६] में भी वडवामुख पातालकलश का एवं केतुक यूपक आदि पाताल कलशों का छठी पृथ्वी के मध्यभाग से छठे घनोदधि तक का वर्णन और जम्बूद्वीप के प्रत्येक द्वार का अव्यवहित अन्तर उन्नासी हजार योजन का है, यह वर्णन मिलता है।

अस्सीवें समवाय का पांचवाँ सूत्र है–'जम्बुद्दीवे णं दीवे ....." तो जीवाभिगम[५०७] में भी जम्बूद्वीप में एक सौ अस्सी योजन जाने पर सर्वप्रथम आभ्यंतर मण्डल में सूर्योदय होता है, यह वर्णन है।

चौरासीवें समवाय का पहला सूत्र है–चउरासीइ निरयावास ....." तो जीवाभिगम[५०८] में भी नारकावास चौरासी लाख बताये हैं।

चौरासीवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–सव्वेवि णं अजंणगपव्वया ·····, तो जीवाभिगम[५०९] में भी सर्व अंजनग पर्वतों की ऊँचाई चौरासी-चौरासी हजार योजन की है।

चौरासीवें समवाय का आठवाँ सूत्र है–'हरिवास-रम्मवासियाण जीवाणं ·····, तो जीवाभिगम[५१०] में भी हरिवर्ष और रम्यकवर्ष की जीवा के धनुःपृष्ठ का परिक्षेप ८४०१६ $^{४}/_{१९}$ योजन है।

चौरासीवें समवाय का दसवाँ सूत्र है विवाहपन्नतीए णं भगवतीए ····· तो जीवाभिगम[५११] में भी विवाहप्रज्ञप्ति के चौरासी हजार पद हैं।

पचासीवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'धायइसंडस्स णं मंदरा ·····, तो जीवाभिगम[५१२] में भी धातकी खण्ड के मेरुपर्वत पचासी हजार योजन ऊँचे हैं, यह वर्णन है।

छियासीवें समवाय का तृतीय सूत्र है–'दोच्चाए णं पुढवीए ·····, तो जीवाभिगम[५१३] में भी दूसरी पृथ्वी के मध्यभाग से दूसरे घनोदधि के नीचे के चरमान्त का अव्यवहित अंतर छियासी हजार योजन का कहा है।

आठासीवें समवाय का पहला सूत्र है–'एगमेगस्स णं चंदिमसूरियस्स' तो जीवाभिगम[५१४] में प्रत्येक चन्द्र सूर्य का अठासी-अठासी ग्रहों का परिवार बताया है।

इक्कानवेवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'कालोए णं समुद्दे' तो जीवाभिगम[५१५] के अनुसार भी कालोद समुद्र की परिधि कुछ अधिक इक्कानवे लाख योजन की है।

पंचानवेवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'जम्बुद्दीवस्स णं दीवस्स ·····, तो जीवाभिगम[५१६] में भी जम्बूद्वीप के चरमान्त से चारों दिशाओं में लवणसमुद्र में पंचानवें-पंचानवे हजार योजन अन्दर जाने पर चार महापाताल कलश कहे हैं।

सौवें समवाय का आठवाँ सूत्र है–'सव्वेवि णं कंचणगपव्वया ·····, तो जीवाभिगम[५१७] में भी सर्व कांचनक पर्वत सौ-सौ योजन ऊँचे हैं, सौ-सौ कोश पृथ्वी में गहरे हैं और उनके मूल का विष्कम्भ सौ-सौ योजन का कहा है।

पाँचसौवें समवाय का आठवाँ सूत्र है–'सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु विमाणा ·····, तो जीवाभिगम[५१८] में सौधर्म और ईशानकल्प में सभी विमान पाँच सौ-पाँच सौ योजन ऊंचे कहे हैं।

छहसौवें समवाय का पहला सूत्र है–सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु ·····, तो जीवाभिगम[५१९] में भी सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में सभी विमान छह सौ योजन ऊँचे कहे हैं।

सातसौवें समवाय का प्रथम सूत्र है–बंभलंतयकप्पेसु ····· तो जीवाभिगम[५२०] में भी ब्रह्म और लान्तक कल्प के विमान सात सौ योजन ऊँचे बतलाए गये हैं।

आठसौवें समवाय का प्रथम सूत्र है–महासुक्क-सहस्सारेसु ..... तो जीवाभिगम[५२१] में भी यही है।

नौसौवें समवाय का प्रथम सूत्र है–आणय-पाणय ..... हजारवें समवाय का प्रथम सूत्र है–सव्वे वि णं गेवेज्ज ... ग्यारहसौवें समवाय का प्रथम सूत्र है–अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं ..... तीन हजारवें समवाय का–इमीसे णं रयणप्पहाए ... तो इन सूत्रों जैसा वर्णन जीवाभिगम[५२२] में भी प्राप्त है।

समवायांग सूत्र के सात हजारवें समवाय का प्रथम सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पहाए पुढवीए ..... तो जीवाभिगम[५२३] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के रत्नकाण्ड के ऊपर के चरमान्त से पुलक काण्ड के नीचे के चरमान्त का अव्यवहित अन्तर सात हजार योजन का बताया है।

दो लाखवें समवाय का प्रथम सूत्र है–लवणे णं समुद्दे ... तो जीवाभिगम[५२४] में भी लवण समुद्र का चक्रवाल-विष्कम्भ दो लाख योजन का बताया है।

चार लाखवें समवाय का प्रथम सूत्र है–धायइखंडे णं दीवे ..... तो जीवाभिगम[५२५] में भी धातकीखण्ड का चक्रवाल-विष्कम्भ चार लाख योजन का बताया है।

पाँच लाखवें समवाय का प्रथम सूत्र है–लवणस्स णं समुद्दस्स ... तो जीवाभिगम[५२६] में भी लवण समुद्र के पूर्वी चरमान्त से पश्चिमी चरमान्त का अव्यवहित अन्तर पाँच लाख योजन का बतलाया है।

इस तरह जीवाभिगम में, समवायांग में आये अनेक विषयों की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है।

समवायांग और प्रज्ञापना

प्रज्ञापना चतुर्थ उपांग है। प्रज्ञापना का अर्थ है–जीव, अजीव का निरूपण करने वाला शास्त्र। आचार्य मलयगिरि प्रज्ञापना को समवाय का उपांग मानते हैं। प्रज्ञापना का समवायांग के साथ कब से सम्बन्ध स्थापित हुआ, यह अनुसन्धान का विषय है। स्वयं श्यामाचार्य प्रज्ञापना को दृष्टिवाद से लिया सूचित करते हैं। किन्तु आज दृष्टिवाद अनुपलब्ध है। इसलिये स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि दृष्टिवाद में से कितनी सामग्री इस में ली गई है। दृष्टिवाद में मुख्य रूप से दृष्टि याने दर्शन का ही वर्णन है। समवायांग में भी मुख्य रूप से जीव अजीव आदि तत्त्वों का प्रतिपादन है तो प्रज्ञापना में भी वही निरूपण है। अतः प्रज्ञापना को समवायांग उपांग मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। अतएव समवायांग में आये हुए विषयों की तुलना प्रज्ञापना के साथ सहज रूप से की जा सकती है।

प्रथम समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–एगा किरिया तो प्रज्ञापना[५२७] में भी क्रिया का निरूपण हुआ है।

प्रथम समवाय का बीसवाँ सूत्र है–अप्पइट्ठाणे नरए ··· तो प्रज्ञापना[५२८] में भी अप्रतिष्ठान नरक का आयाम विष्कम्भ प्रतिपादित है।

प्रथम समवाय का बाईसवां सूत्र है–सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे ···· तो प्रज्ञापना[५२९] में भी सर्वार्थसिद्ध विमान का आयाम विष्कम्भ एक लाख योजन का बताया है।

प्रथम समवाय का छब्बीसवाँ सूत्र है–इमीसे णं रयणप्पहाए णं ···· तो प्रज्ञापना[५३०] में भी रत्नप्रभा के कुछ नारकों की स्थिति एक पल्योपम की बतायी है।

प्रथम समवाय के सत्ताइसवें सूत्र से लेकर चालीसवें सूत्र तक जो वर्णन है वह प्रज्ञापना[५३१] के चतुर्थ पद में उसी तरह से प्राप्त होता है।

समवायांग के प्रथम समवाय का इकतालीसवाँ सूत्र है–ते णं देवा ···· तो प्रज्ञापना[५३२] में भी सागर यावत् लोकहितविमानों में जो देव उत्पन्न होते हैं, वे एक पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेते कहे हैं।

प्रथम समवाय का बयालीसवाँ सूत्र है–तेसिं णं देवाणं ····· तो प्रज्ञापना[५३३] में उन देवों की आहार लेने की इच्छा एक हजार वर्ष से होती है, ऐसा कहा है।

दूसरे समवाय का दूसरा सूत्र है–दुविहा रासी पण्णत्ता ····· तो प्रज्ञापना[५३४] में भी दो राशियों का उल्लेख है।

दूसरे समवाय के आठवें सूत्र से लेकर बाईसवें सूत्र तक का वर्णम प्रज्ञापना[५३५] में भी इसी तरह प्राप्त है।

तृतीय समवाय के तेरहवें सूत्र से तेईसवें सूत्र तक का वर्णन प्रज्ञापना[५३६] में भी इसी तरह संप्राप्त है।

चतुर्थ समवाय के दशवें सूत्र से सत्रहवें सूत्र तक का विषय प्रज्ञापना[५३७] में भी इसी तरह उपलब्ध होता है।

पांचवें समवाय के चौदहवें सूत्र से इक्कीसवें सूत्र तक जिस विषय का प्रतिपादन हुआ है वह प्रज्ञापना[५३८] में भी निहारा जा सकता है।

छठे समवाय का पहला सूत्र है–'छ लेसाओ पण्णत्ताओ' तो प्रज्ञापना[५३९] में भी छह लेश्याओं का वर्णन प्राप्त है।

छठे समवाय का दूसरा सूत्र है–'छ जीवनिकाया पण्णत्ता ···· ' तो प्रज्ञापना[५४०] में भी वह वर्णन उपलब्ध होता है।

छठे समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ··· ' तो प्रज्ञापना[५४१] में भी छाद्मस्थिक समुद्घात के छह प्रकार बताये हैं।

छठे समवाय के दशवें सूत्र से सत्रहवें सूत्र तक का वर्णन प्रज्ञापना[५४२] में भी प्राप्त है।

सातवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–सत्त समुग्घाया पण्णत्ता .... तो प्रज्ञापना[५४३] में भी सात समुद्घात का उल्लेख हुआ है।

सातवें समवाय के बारहवें सूत्र से लेकर बाईसवें सूत्र तक जिन विषयों का उल्लेख हुआ है, वे विषय प्रज्ञापना[५४४] में भी उसी तरह प्राप्त है।

आठवें समवाय का सातवाँ सूत्र हैं–अट्ठसामइए केवलीसमुग्घाए .... तो प्रज्ञापना[५४५] में भी केवली समुद्घात के आठ समय बताये हैं।

आठवें समवाय के दशवें सूत्र से लेकर सत्रहवें सूत्र तक जिन विषयों की चर्चाएँ हुई हैं, वे प्रज्ञापना[५४६] में भी इसी तरह प्रतिपादित हैं।

नवमें समवाय के ग्यारहवें सूत्र से लेकर उन्नीसवें सूत्र तक जिन विषयों पर चिन्तन किया गया है, वे प्रज्ञापना[५४७] में भी चर्चित हैं।

दशवें समवाय के नवम सूत्र से लेकर चौबीसवें सूत्र तक जिन-जिन विषयों पर विचारणा हुई है, वे प्रज्ञापना[५४८] में भी निहारे जा सकते हैं।

ग्यारहवें समवाय का छठा सूत्र है–हेट्ठिमगेविज्जाणं ..... तो प्रज्ञापना[५४९] में भी नीचे के तीन ग्रैवेयक देवों के एक सौ ग्यारह विमान बताये हैं।

ग्यारहवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक जिन चिन्तन-बिन्दुओं का उल्लेख है, प्रज्ञापना[५५०] में भी उन सभी पर प्रकाश डाला गया है।

बारहवें समवाय के बारहवें सूत्र से उन्नीसवें सूत्र तक जिन विषयों के सम्बन्ध में विवेचन हुआ है, प्रज्ञापना[५५१] में भी उन सब पर चिन्तन हुआ है।

तेरहवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–गब्भं वक्कंति य .... तो प्रज्ञापना[५५२] में भी गर्भज तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के तेरह योग प्रतिपादित हैं।

तेरहवें समवाय के नवमें सूत्र से लेकर सोलहवें सूत्र तक जिन पहलुओं पर विचार किया गया है, वे विषय प्रज्ञापना[५५३] में भी प्रज्ञापित हैं।

चौदहवें समवाय के नवमें सूत्र से लेकर सत्रहवें समवाय तक जिन विषयों को उजागर किया गया है, वे प्रज्ञापना[५५४] में भी अपने ढंग से विवेचित हुए हैं।

पन्द्रहवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर सोलहवें सूत्र तक जिन पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, वे प्रज्ञापना[५५५] में भी हैं।

सोलहवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–सोलस कसाया पण्णत्ता ... तो प्रज्ञापना[५५६] में भी अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय चर्चित हुए हैं।

सोलहवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक जिन बातों पर प्रकाश डाला है, वे प्रज्ञापना[५५७] में भी विश्लेषित हैं।

सत्रहवें समवाय के ग्यारहवें सूत्र से लेकर बीसवें सूत्र तक जिन विषयों पर चिन्तन-मनन किया गया है, उन विषयों पर प्रज्ञापना[५५८] में भी प्रकाश डाला गया है।

अठारहवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–बंभीए णं लिवीए ..... तो प्रज्ञापना[५५९] में भी ब्राह्मी लिपि का लेखन अठारह प्रकार का बताया है।

अठारहवें समवाय के नौवें सूत्र से लेकर सत्रहवें सूत्र तक जिन विषयों की चर्चा की गई है, वे विषय प्रज्ञापना[५६०] में भी आये हैं।

उन्नीसवें समवाय में छठे सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक जिन विषयों की चर्चा की गई है, वे विषय प्रज्ञापना[५६१] में भी आये हैं।

बीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–पाणयस्स णं देविंदस्स ..... तो प्रज्ञापना[५६२] में भी प्राणत कल्पेन्द्र के बीस हजार सामानिक देव बताये हैं।

बीसवें समवाय के आठवें सूत्र से सत्रहवें सूत्र तक जो वर्णन है वह प्रज्ञापना[५६३] में भी मिलता है।

इक्कीसवें समवाय में पाँचवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक जिन विषयों की चर्चा है, वे प्रज्ञापना[५६४] में भी चर्चित हुए हैं।

बाईसवें समवाय में सातवें सूत्र से लेकर सोलहवें सूत्र तक जिन विषयों पर चिन्तन हुआ है, उन विषयों पर प्रज्ञापना[५६५] में भी विश्लेषण हुआ है।

तेईसवें समवाय के पाँचवें सूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक जिन भावों की प्ररूपणा हुई है वे भाव प्रज्ञापना[५६६] में भी इसी तरह प्ररूपित हैं।

चौबीसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक जिन विचारों को गुम्फित किया गया है, वह प्रज्ञापना[५६७] में भी उसी रूप में व्यक्त हुए हैं।

पच्चीसवें समवाय के दशवें सूत्र से लेकर सत्रहवें सूत्र तक जो वर्णन है वह प्रज्ञापना[५६८] में भी उसी तरह मिलता है।

छब्बीसवें समवाय के दूसरे सूत्र से दशवें सूत्र तक जो विचारसूत्र आये हैं वे प्रज्ञापना[५६९] में भी देखे जा सकते हैं।

सत्ताईसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक जिन विचारों को निरूपित किया है वे प्रज्ञापना[५७०] में भी उसी तरह मिलते हैं।

अट्ठाईसवें समवाय का चौथा सूत्र है–'ईसाणे णं कप्पे अट्ठावीसं विमाण-सय-सहस्सा पण्णत्ता' तो प्रज्ञापना[५७१] में भी ईशान कल्प के अट्ठाईस लाख विमान बताये हैं।

अट्ठाईसवें समवाय के छठे सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक, उनतीसवें समवाय के दसवें सूत्र से लेकर सत्रहवें सूत्र तक, तीसवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक, इकत्तीसवें समवाय के छठे सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक, बत्तीसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक, तेतीसवें समवाय के पाँचवें सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक जिन विषयों पर चिन्तन हुआ है, वे विषय प्रज्ञापना[१७२] में भी अच्छी तरह से चर्चित किये गये हैं।

चौंतीसवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'चमरस्स णं असुरिंदस्स ''तो प्रज्ञापना[१७३] में भी चमरेन्द्र के चौंतीस लाख भवनावास बताये हैं।

उनचालीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–'नाणावरणिज्जस्स '' तो प्रज्ञापना[१७४] में भी ज्ञानावरणीय, मोहनीय, गोत्र और आयु–इन चार मूल कर्म प्रकृतियों की उनचालीस उत्तर कर्मप्रकृतियाँ बताई हैं।

चालीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–'भूयाणंदस्स णं नागकुमारस्स नागरण्णो ''' तो प्रज्ञापना[१७५] में भी भूतानन्द नागकुमारेन्द्र के चालीस लाख भवनावास बताये हैं।

चालीसवें समवाय का आठवां सूत्र है–महासुक्के कप्पे ''' तो प्रज्ञापना[१७६] में भी महाशुक्र कल्प में चालीस हजार विमानावास का वर्णन है।

बयालीसवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'संमुच्छिम-भुयपरिसप्पाणं '' तो प्रज्ञापना[१७७] में भी सम्मूर्छिम भुजपरिसर्प की उत्कृष्ट स्थिति बयालीस हजार वर्ष की बताई है।

बयालीसवें समवाय का छठा सूत्र है–'नामकम्मे बायालीसविहे पण्णत्ते' तो प्रज्ञापना[१७८] में भी नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ बताई हैं।

पैंतालीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–'ईसिपब्भारा णं पुढवी एवं चेव' तो प्रज्ञापना[१७९] में भी ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी के आयाम-विष्कम्भ का वर्णन है।

छियालीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–'पभंजणस्स णं वाउकुमारिंदस्स ' तो प्रज्ञापना[१८०] में भी वायुकुमारेन्द्र प्रभंजन के छियालीस लाख भवनावास बताये हैं।

उनपचासवें समवाय का तृतीय सूत्र है–'तेइंदियाणं उक्कोसेणं '' तो प्रज्ञापना[१८१] में भी त्रीन्द्रियों की उत्कृष्ट स्थिति उनपचास अहोरात्रि की बताई है।

पचासवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'लंतए कप्पे पन्नासं ' तो प्रज्ञापना[१८२] में भी लांतक कल्प में पचास हचार विमान बताये हैं।

एकावनवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'दंसणावरण-नामाणं ''तो प्रज्ञापना[१८३] में भी ऐसा ही कथन है।

बावनवें समवाय का चौथा सूत्र है–'नाणावरणिज्जस्स, नामस्स ' ' ' 'तो प्रज्ञापना[१८४] में भी ज्ञानावरणीय, नाम और अन्तराय इन तीन मूल प्रकृतियों की बावन उत्तर प्रकृतियाँ बताई हैं।

बावनवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'सोहम्म-सणंकुमार ' ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१८५] में भी सौधर्म सनत्कुमार और माहेन्द्र इन तीन देवलोकों में बावन लाख विमानावास कहे हैं।

त्रेपनवें समवाय का चौथा सूत्र है–'सम्मुच्छिम-उरपरिसप्पाणं ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१८६] में भी सम्मूर्छिम उरपरिसर्प की उत्कृष्ट स्थिति त्रेपन हजार वर्ष की कही है।

पचपनवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'पढम-विइयासु दोसु ' ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१८७] में भी प्रथम और द्वितीय इन दो पृथ्वियों में पचपन लाख नरकावास बताये हैं।

पचपनवें समवाय का छठा सूत्र है–'दंसणावरणिज्ज-नामाउयाणं ' ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१८८] में भी दर्शनावरणीय, नाम और आयु इन तीन मूल प्रकृतियों की पचपन उत्तर प्रकृतियाँ बताई हैं।

अठावनवें समवाय का पहला सूत्र है–'पढम-दोच्च-पंचमासु ' ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१८९] में भी पहली, दूसरी और पाँचवीं इन तीन पृथ्वियों में अठावन लाख नारकावास बताए हैं।

अठावनवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'नाणावरणिज्जस्स वेयणिय ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९०] में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय इन पाँच मूल कर्मप्रकृतियों की अठावन उत्तर प्रकृतियाँ कही हैं।

साठवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–'बलिस्स णं बइरोयणिंदस्स ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९१] में भी बलेन्द्र के साठ हजार सामानिक देव बताये हैं।

साठवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'बंभस्स णं देविंदस्स ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९२] में भी ब्रह्म देवेन्द्र के साठ हजार सामानिक देव बताये हैं।

साठवें समवाय का छठा सूत्र है–'सोहम्मीसाणेसु दोसु ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९३] में भी सौधर्म और ईशान इन दो कल्पों में साठ लाख विमानावास कहे हैं।

बासठवें समवाय का चौथा सूत्र है–'सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९४] में भी सौधर्म और ईशान कल्प के प्रथम प्रस्तट की प्रथम आवलिका एवं प्रत्येक दिशा में बासठ-बासठ विमान हैं।

बासठवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–'सव्वे वेमाणियाणं बासट्ठि ' ' ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९५] में भी सर्व वैमानिक देवों के बासठ विमान प्रस्तट कथित हैं।

चौंसठवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'चउसट्ठि असुरकुमाराणं ' ' ' ' ' तो प्रज्ञापना[१९६] में भी चौसठ लाख असुरकुमारावास बताये हैं।

बहत्तरवें समवाय का प्रथम सूत्र है–'बावत्तरिं सुवन्नकुमारावासा ....' तो प्रज्ञापना[५९७] में भी सुवर्णकुमारावास बहत्तर लाख बताये हैं।

बहत्तरवें समवाय का आठवाँ सूत्र है–'सम्मुच्छिम-खहयर ....' तो प्रज्ञापना[५९८] में भी संमूर्च्छिम खेचर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय की उत्कष्ट स्थिति बहत्तर हजार वर्ष की बतायी है।

चौहत्तरवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–चउत्थवज्जासु छसु ....' तो प्रज्ञापना[५९९] में भी चौथी पृथ्वी को छोड़कर शेष छह पृथ्वियों में चौहत्तर लाख नरकावास कहे हैं।

छिहत्तरहवें समवाय का पहला सूत्र है–'छावत्तरिं विज्जुकुमारावास ....' तो प्रज्ञापना[६००] में भी विद्युत्कुमारावास छिहत्तर लाख बताये हैं।

छिहत्तरहवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'एवं दीव-दिसा-उदहीणं ....' तो प्रज्ञापना[६०१] में भी द्वीपकुमार, दिशाकुमार आदि के छिहत्तर लाख भवन बताये हैं।

अस्सीवें समवाय का छठा सूत्र है–'ईसाणस्स देविंदस्स ....' तो प्रज्ञापना[६०२] में भी ईशान देवेन्द्र के अस्सी हजार सामानिक देव बताये हैं।

चौरासीवें समवाय का छठा सूत्र है–'सव्वेवि णं बाहिरया मंदरा ....' तो प्रज्ञापना[६०३] में भी ऐसा ही वर्णन है।

चौरासीवें समवाय का बारहवाँ सूत्र है–'चोरासीइ पइन्नग ....' तो प्रज्ञापना[६०४] में भी ऐसा ही कथन है।

छियानवेवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'वायुकुमाराणं छण्णउइ ....' तो प्रज्ञापना[६०५] में भी वायुकुमार देवों के छानवे लाख भवन बताये हैं।

निन्यानवेवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–'दक्खिआओ णं कड्डाओ ....' तो ज्ञापना[६०६] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के अंजनकाण्ड के नीचे के चरमान्त से व्यन्तरों के मेय विहारों के ऊपरी चरमान्त का अव्यवहित अंतर निन्यानवे सौ योजन का है।

डेढ़सौवें समवाय का दूसरा सूत्र है–'आरणे कप्पे ....' तो प्रज्ञापना[६०७] में भी रण कल्प के डेढ़ सौ विमान बताये हैं।

ढाईसौवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–'असुरकुमाराणं ....' तो प्रज्ञापना[६०८] में असुरकुमारों के प्रासाद ढाई सौ योजन ऊँचे बताये हैं।

चारसौवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–'आणयपाणएसु ...' तो प्रज्ञापना[६०९] में भी त और प्राणत इन दो कल्पों में चार सौ विमान बताये हैं।

आठसौवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–'इमीसे णं रयणप्पहाए ....' तो ना[६१०] में भी रत्नप्रभा पृथ्वी के अति सम रमणीय भूभाग से आठ सौ योजन सूर्य गति करता कहा गया है।

छह हजारवें समवाय का प्रथम सूत्र है–'सहस्सारे णं कप्पे ....' तो प्रज्ञापना[६११] में भी सहस्रार कल्प में छह हजार विमान बताये हैं।

आठ लाखवें समवाय का प्रथम सूत्र है–'माहिंदे णं कप्पे ....' तो प्रज्ञापना[६१२] में भी माहेन्द्र कल्प में आठ लाख विमान बताये हैं।

इस तरह प्रज्ञापना में समवायांग के अनेक विषय प्रतिपादित हैं। कितने ही सूत्र तो समवायांगगत सूत्रों से प्रायः मिलते हैं। समवायांग में जिन विषयों के संकेत किये गये हैं, उन विषयों को श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना में विस्तार से निरूपित किया है। अत्यधिक साम्य होने के कारण ही इसे समवायांग का उपांग माना गया लगता है।

समवायांग और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति प्राचीन जैन भूगोल का महत्त्वपूर्ण आगम है। इस आगम में जैन दृष्टि से सृष्टिविद्या के बीज यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। भगवान् ऋषभदेव का प्राग् ऐतिहासिक जीवन भी इसमें मिलता है।

प्रस्तुत आगम के अनेक विषयों की तुलना सहज रूप से इसके साथ की जा सकती है।

आठवें समवाय का चौथा सूत्र है–जंबू णं सुदंसणा अट्ठ .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१३] में भी जम्बूद्वीप के सुदर्शन वृक्ष की आठ योजन की ऊँचाई कही है।

आठवें समवाय का पाँचवां सूत्र है–कूडस्स सालमलिस्स णं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१४] में भी गरुडावास कूट शाल्मली वृक्ष आठ योजन के ऊँचे बताये हैं।

आठवें समवाय का छठा सूत्र है–जंबूदीवस्स णं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१५] में जम्बूद्वीप की जगती आठ योजन ऊँची बतायी है।

नवमें समवाय का नवमां सूत्र है–विजयस्स णं दारस्स ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१६] में विजय द्वार के प्रत्येक पार्श्व भाग में नौ-नौ भौम नगर कहे हैं।

दशवें समवाय का तृतीय सूत्र है–मंदरे णं पव्वए .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१७] में भी मेरु पर्वत के मूल का विष्कम्भ दश हजार योजन का बताया है।

दशवें समवाय का आठवाँ सूत्र है–अकम्मभूमियाणं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१८] में भी अकर्मभूमिज मनुष्यों के उपयोग के लिये कल्पवृक्षों का वर्णन है।

ग्यारहवें समवाय का द्वितीय सूत्र है–लोगंताओ इक्कारसएहिं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६१९] में भी लोकान्त से अव्यवहित ग्यारह सौ ग्यारह योजन दूरी पर ज्योतिष्कचक्र प्रारम्भ होता है।

ग्यारहवें समवाय का तीसरा सूत्र है–जम्बुद्दीवे दीवे मंदरस्स ···· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२०] में भी जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से अव्यवहित ग्यारह सौ ग्यारह योजन की दूरी पर ज्योतिष्कचक्र प्रारम्भ होता है।

ग्यारहवें समवाय का सातवां सूत्र है–मंदरे णं पव्वए ···· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२१] में भी मेरु पर्वत के पृथ्वीतल के विष्कम्भ से शिखर तल का विष्कम्भ ऊँचाई की अपेक्षा ग्यारह भाग हीन है।

बारहवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–विजया णं रायहाणी ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२२] में भी विजया राजधानी का आयाम-विष्कम्भ बारह लाख योजन का बताया है।

बारहवें समवाय का छठा सूत्र है–मंदरस्स णं पव्वयस्स ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२३] में भी मेरु पर्वत की चूलिका के मूल का विष्कम्भ बारह योजन बताया है।

बारहवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–जम्बूदीवस्स णं दीवस्स ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२४] में भी जम्बूद्वीप की वेदिका के मूल का विष्कम्भ बारह योजन का बताया है।

तेरहवें समवाय का आठवां सूत्र है–सूरमंडलं जोयणेणं ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२५] में भी एक योजन के इकसठ भागों में से तेरह भाग कम करने पर जितना रहे उतना सूर्यमण्डल है।

चौदहवें समवाय का छठा सूत्र है–'भरहेरवयाओ णं जीवाओ ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२६] में भी भरत और ऐरवत की जीवा का आयाम चौदह हजार चार सौ इकहत्तर व एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग का कहा है।

चौदहवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–एगमेगस्स णं रन्नो ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२७] में प्रत्येक चक्रवर्ती के चौदह रत्न बताये हैं।

चौदहवें समवाय का आठवाँ सूत्र है–जंबुद्दीवे णं दीवे ···· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२८] में भी कहा है कि गंगा, सिन्धु, रोहिता, रोहितांशा आदि चौदह मोटी नदियां पूर्व पश्चिम से लवण समुद्र में मिलती हैं।

सोलहवें समवाय का तीसरा सूत्र है–नंदरस्स णं पव्वयस्स ···· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६२९] में भी मेरु पर्वत के सोलह नाम बताये हैं।

अठारहवें समवाय का पांचवां सूत्र है–बंभीए णं लिवीए ····· तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३०] में भी ब्राह्मी लिपि के अठारह प्रकार बताये हैं।

उन्नीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–जम्बूद्वीवे णं दीवे सूरिआ ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३१] में जम्बूद्वीप में सूर्य ऊँचे तथा नीचे उन्नीस सौ योजन तक ताप पहुँचाते हैं।

बीसवें समवाय का सातवां सूत्र है–उस्सप्पिणि-ओसप्पिणिमंडले ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३२] में भी कालचक्र को बीस कोटाकोटी सागरोपम का बताया है।

इक्कीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–एकमेक्काए णं ओसप्पिणीए .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३३] में भी प्रत्येक अवसर्पिणी का पांचवाँ दुषमा और छठा दुषम-दुषमा आरा इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का कहा है।

इक्कीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–एगमेगाए णं उस्सप्पिणीए .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३४] में भी प्रत्येक उत्सर्पिणी का पहला दुषम-दुषमा और दूसरा दुषमा आरा इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का है।

चौबीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–चुल्लहिमवंत-सिहरीणं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३५] में लघुहिमवंत और शिखरी वर्षधर पर्वतों की जीवा का आयाम चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन तथा एक योजन के अड़तीसवें भाग से कुछ अधिक कहा है।

चौबीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–चउवीसं देवठाणा ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३६] में भी देवताओं के चौबीस स्थान इन्द्रवाले शेष अहमिन्द्र अर्थात् इन्द्र और पुरोहित रहित कहे गए हैं।

चौबीसवें समवाय का पांचवाँ सूत्र है–गंगा-सिंधूओ णं महाणदीओ .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३७] में भी महानदी गंगा और सिन्धु का प्रवाह कुछ अधिक चौबीस कोश का चौड़ा बतलाया है।

चौबीसवें समवाय का छठा सूत्र है–रत्तारत्तवतीओ णं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३८] में भी यही विषय वर्णित है।

पच्चीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–सव्वे वि दीहवेयड्डपव्वया .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६३९] में भी सर्वदीर्घ वैताढ्य पर्वत इसी प्रकार के कहे हैं।

पच्चीसवें समवाय का सातवां सूत्र है–गंगासिंधूओ णं महाणदीओ .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४०] में भी वर्णन है कि महानदी गंगा-सिंधु का मुक्तावली हार की आकृतिवाला पच्चीस कोश का विस्तृत प्रवाह पूर्व-पश्चिम दिशा में घटमुख से अपने-अपने कुंड में गिरता है।

इकत्तीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–मंदरे पव्वए ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४१] में भी लिखा है कि पृथ्वीतल पर मेरु की परिधि कुछ कम इकत्तीस हजार छह सौ तेईस योजन की है।

इकत्तीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है, जया णं सूरिए .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४२] में भी सूर्यदर्शन का वर्णन है।

तेतीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–महाविदेहेणं वासे .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४३] में महाविदेह का विष्कंभ कुछ अधिक तेतीस हजार योजन का बताया है।

तेतीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–जया णं सूरिए .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४४] में जम्बूद्वीप में कुछ न्यून तेतीस हजार योजन दूर से सूर्य-दर्शन होता कहा है।

चौंतीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–जंबुद्दीवे णं दीवे .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४५] में भी जम्बूद्वीप में चौंतीस चक्रवर्तीविजय कहे हैं।

चौंतीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–जंबुद्दीवे णं दीवे चोत्तीसं दीहवेयड्ढा ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४६] में भी जम्बूद्वीप में चौंतीस दीर्घ वैताढ्य पर्वत बतलाए हैं।

चौंतीसवें समवाय का चौथा सूत्र है–जंबुद्दीवे णं दीवे .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४७] में भी जम्बूद्वीप में उत्कृष्ट चौंतीस तीर्थंकर उत्पन्न होना कहा है।

सेंतीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–हेमवय-हेरण्णवयाओ णं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४८] में भी हैमवत और हैरण्यवत की जीवा के आयाम का वर्णन है।

अड़तीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–हेमवए–हेरण्णवईमाणं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६४९] में भी हैमवत और हैरण्यवत की जीवा के धनुपृष्ठ की परिधि का वर्णन है।

अड़तीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–अत्थस्स णं पव्वयरण्णो ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५०] में भी मेरुपर्वत के द्वितीय काण्ड की ऊँचाई अड़तीस हजार योजन बताई है।

उनचालीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–समयखेत्ते एगूणचत्तालीसं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५१] में भी समयक्षेत्र में उनचालीस कुल-पर्वत बताये हैं।

चालीसवें समवाय का दूसरा सूत्र है–मंदरचूलिया णं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५२] में भी वर्णन है कि मेरु की चूलिका चालीस योजन ऊँची है।

पैंतालीसवें समवाय का पहला सूत्र है–समयखेत्ते णं पणयालीस .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५३] में भी समयक्षेत्र का आयाम-विष्कंभ पैंतालीस लाख योजन का बताया है।

पैंतालीसवें समवाय का छठा सूत्र है–मंदरस्स णं पव्वयस्स .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५४] में भी मेरुपर्वत एवं लवण समुद्र का अव्यवहित अन्तर चारों दिशाओं में पैंतालीस-पैंतालीस हजार योजन का बताया है।

सैंतालीसवें समवाय का पहला सूत्र है–जया णं सूरिए सव्वब्भिंतर .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५५] में भी सूर्यदर्शन का इसी तरह वर्णन प्राप्त है।

अड़तालीसवें समवाय का पहला सूत्र है–एगमेगस्स णं रन्नो .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५६] में भी प्रत्येक चक्रवर्ती के अड़तालीस हजार पट्टण बताये हैं।

अड़तालीसवें समवाय का तीसरा सूत्र है–सूरमंडले णं अडयालीसं ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५७] में भी सूर्यविमान का विष्कम्भ एक योजन के इकसठ भागों में से अड़तालीस भाग जितना है।

उनपचासवें समवाय का दूसरा सूत्र है–देवकुरु-उत्तरकुरुएसु णं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५८] में भी देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्य उनपचास अहोरात्रि में युवा हो जाते कहे हैं।

पचासवें समवाय का चौथा सूत्र है–सव्वेवि णं दीहवेयड्ढा मूले'' तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६५९] में भी सर्वदीर्घ वैताढ्य पर्वतों के मूल का विष्कंभ पचास योजन का है।

पचासवें समवाय का छठा सूत्र है–सव्वाओ णं तिमिस्सगुहाओ ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६०] में भी सर्व तिमिस्र गुफा और खण्डप्रपात गुफाओं का आयाम पचास-पचास योजन का कहा है।

त्रेपनवें समवाय का पहला सूत्र है–देवकुरु-उत्तरकुरुयाओ ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६१] में भी देवकुरु और उत्तरकुरु की जीवा का आयाम त्रेपन हजार योजन का बताया है।

त्रेपनवें समवाय का दूसरा सूत्र है–महाहिमवंतरुप्पीणं ..... तो जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति[६६२] में भी महाहिमवंत और रुक्मी आदि के आयाम का वर्णन है।

पचपनवें समवाय का दूसरा सूत्र है–मन्दरस्स णं पव्वयस्स'' तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६३] में भी मेरुपर्वत के पश्चिमी चरमान्त से विजयद्वार के पश्चिमी चरमान्त का अव्यवहित अन्तर पचपन हजार योजन का है।

सत्तावनवें समवाय का पांचवां सूत्र है–महाहिमवंत-रुप्पीणं .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६४] में भी महाहिमवंत और रुक्मी वर्षधर पर्वतों की जीवा का वर्णन है।

साठवें समवाय का पहला सूत्र है–एगमेगे णं मंडले .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६५] में भी वर्णन है कि प्रत्येक मण्डल में सूर्य साठ-साठ मुहूर्त पूरे करता है।

इकसठवें समवाय का तीसरा सूत्र है–चंदमंडलेणं एगसट्ठि .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६६] में भी चन्द्र-मण्डल का समांश एक योजन के इकसठ विभाग करने पर (४५ समांश) होता है।

बासठवें समवाय का तीसरा सूत्र है–सुक्कपक्खस्स णं चंदे ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६७] में शुक्लपक्ष में चन्द्र बासठ भाग प्रतिदिन बढ़ता है और कृष्ण पक्ष में उतना ही घटता है, यह कथन है।

त्रेसठवें समवाय के चारों सूत्रों में जो वर्णन है वह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६८] में ज्यों का त्यों मिलता है।

चौंसठवें समवाय का छठा सूत्र है–सव्वस्स वि य णं रन्नो ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६६९] में भी वर्णन है कि सभी चक्रवर्तियों का मुक्तामणिमय हार महामूल्यवान् एवं चौंसठ लड़ियों वाला होता है।

पैंसठवें समवाय का पहला सूत्र है–जंबुद्दीवे णं दीवे पणसट्ठिं सूरमंडला .. तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७०] में भी जम्बूद्वीप में सूर्य के पैंसठ मंडल बताये हैं।

सड़सठवें समवाय का दूसरा सूत्र है–हेमवयएरन्नवयाओ ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७१] में भी हेमवत और एरण्यवत की बाहा का आयाम सड़सठ सौ पंचावन योजन तथा एक योजन के तीन भाग जितना है।

अड़सठवें समवाय के दूसरे, तीसरे और चौथे सूत्र 'उक्कोसपए अड़सट्ठिं अरहंता ..... चक्कवट्टी बलदेवा ....' 'पुक्खरवरदीवड्ढे णं'' वर्णन है तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७२] में भी 'उत्कृष्ट अड़सठ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव होते हैं वैसे ही पुष्करार्धद्वीप में भी होते कहे हैं।

बहत्तरवें समवाय का छठा सूत्र है–एगमेगस्स णं रन्नो .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७३] में भी यह वर्णन है कि प्रत्येक चक्रवर्ती के बहत्तर हजार श्रेष्ठ पुर होते हैं।

बहत्तरवें समवाय का सातवाँ सूत्र है–बावत्तरि कलाओ पण्णत्तओ ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७४] में भी बहत्तर कलाओं का उल्लेख है।

तिहत्तरवें समवाय का प्रथम सूत्र है–हरिवास-रम्मयवासयाओ .. तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी हरिवर्ष और रम्यक् वर्ष की जीवा के आयाम का वर्णन है।

चौहत्तरवें समवाय का दूसरा सूत्र है–निसहाओ णं वासहर .... तीसरा सूत्र है–एवं सीतावि .... इसी तरह जम्बूद्वीप[६७५] प्रज्ञप्ति में भी निषध पर्वत और सीतोदा महानदी का वर्णन है।

सतहत्तरवें समवाय का पहला सूत्र है–भरहे राया चाउरंत-चक्कवट्टी .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७६] में भी भरत चक्रवर्ती सतहत्तर लाख पूर्व तक कुमार पद में रहने के पश्चात् राजपद को प्राप्त हुए, यह उल्लेख है।

अठहत्तरवें समवाय का तीसरा सूत्र है–उत्तरायणनियट्टे णं सूरिए .. तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७७] में उत्तरायण से लौटता हुआ सूर्य प्रथम मंडल से उनचालीसवें

मंडल तक एक मुहूर्त के इकसठिए अठहत्तर भाग प्रमाण दिन तथा रात्रि को बढ़ाकर गति करता कहा है।

उन्नासीवें समवाय का चतुर्थ सूत्र है–जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७८] में भी वर्णन है कि जम्बूद्वीप के प्रत्येक द्वार का अव्यवहित अंतर उन्नासी हजार योजन का है।

बियासीवें समवाय का पहला सूत्र है–जंबुद्दीवे दीवे बासीयं ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६७९] में कहा है–जम्बूद्वीप में एक सौ बियासीवें सूर्यमण्डल में सूर्य दो बार गति करता है।

तिरासीवें समवाय का चौथा सूत्र है–उसभे णं अरहा कोसलिए .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८०] में भी लिखा है अरहंत कौशलिक ऋषभदेव तिरासी लाख पूर्व गृहवास में रहकर मुंडित यावत् प्रव्रजित हुए।

तिरासीवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है–भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८१] में भी वर्णन है कि भरत चक्रवर्ती तिरासी लाख पूर्व गृहवास में रहकर जिन हुए।

चौरासीवें समवाय का दूसरा सूत्र है–उसभे णं अरहा कोसलिए ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८२] के अनुसार भी अरहंत कौशलिक ऋषभदेव चौरासी लाख पूर्व का आयु पूर्ण करके सिद्ध यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए।

चौरासीवें समवाय का तीसरा सूत्र है–सिज्जंसे णं अरहा चउरासीइं ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८३] में भी उल्लेख है कि ऋषभदेव जी की तरह भरत, बाहुबली, ब्राह्मी और सुन्दरी भी सिद्ध हुए।

चौरासीवें समवाय का पन्द्रहवाँ सूत्र है–उसभस्स णं अरहओ ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८४] में अरहंत ऋषभदेव के चौरासी गण और चौरासी गणधरों का उल्लेख है।

अठासीवें समवाय का तीसरा सूत्र है–मंदरस्स णं पव्वयस्स .... तो जम्दूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८५] में भी मेरु पर्वत के पूर्वी चरमान्त से गोस्तूप आवास पर्वत के पूर्वी चरमान्त का अव्यवहित अन्तर अठासी हजार योजन का बताया है।

नवासीवें समवाय का पहला सूत्र है–उसभे णं अरहा .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८६] में भी अरहंत कौशलिक ऋषभदेव इस अवसर्पिणी के तृतीय सुषम-दुषमा काल के अन्तिम भाग में नवासी पक्ष शेष रहने पर कालधर्म को प्राप्त हुए।

नब्बेवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है-सव्वेसि णं वट्टवेयड्ढपव्वयाणं ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८७] में भी सर्ववृत्तवैताढ्य पर्वतों के शिखर के ऊपर से सौगंधिक काण्ड के नीचे के चरमान्त का अव्यवहित अन्तर नब्बे सौ योजन का कहा है।

छियानवेवें समवाय का पहला सूत्र है–एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंत-चक्कवट्टिस्स .... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८८] में भी प्रत्येक चक्रवर्ती के छानवे-छानवे करोड़ ग्राम बताये हैं।

निन्यानवेवें समवाय के पहले सूत्र से लेकर छठे सूत्र तक जो वर्णन है वह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६८९] में भी ज्यों का त्यों मिलता है।

सौवें समवाय का छठा सूत्र है–सव्वेवि णं दीहवेयड्ढपव्वया ..... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६९०] में सर्व दीर्घवैताढ्य पर्वत सौ-सौ कोश ऊँचे प्ररूपित हैं।

दो सौवें समवाय का तीसरा सूत्र है–जंबुद्दीवे णं दीवे दो कंचणपव्वय-सया पण्णत्ता ... तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६९१] में भी जम्बूद्वीप में दो सौ कांचनक पर्वतों का वर्णन है।

पाँच सौवें समवाय में प्रथम सूत्र से लेकर सातवें सूत्र तक जो वर्णन है वह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६९२] में भी इसी तरह मिलता है।

हजारवें समवाय में दूसरे सूत्र से लेकर छठे सूत्र तक जो वर्णन है, वह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६९३] में भी इसी तरह देखा जा सकता है।

इस तरह समवायांग और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अनेक स्थलों पर विषयसाम्य है। विस्तारभय से कुछ सूत्रों की तुलना जानकर हमने यहाँ पर छोड़ दी है।

समवायांग और सूर्यप्रज्ञप्ति

सूर्यप्रज्ञप्ति छठा उपांग है। डॉ. विन्टरनित्ज ने सूर्यप्रज्ञप्ति को एक वैज्ञानिक ग्रन्थ माना है। डॉ. शुब्रिंग ने जर्मनी की हेमबर्ग यूनिवर्सिटी में अपने भाषण में कहा था कि जैन विचारकों ने जिन तर्कसम्मत एवं सुसंगत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से भी अमूल्य एवं महत्वपूर्ण हैं। विश्व रचना के सिद्धान्त के साथ उसमें उच्चकोटि का गणित एवं ज्योतिषविज्ञान भी मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणित और ज्योतिष पर गहराई से विचार किया गया है, अतः सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन के बिना भारतीय ज्योतिष के इतिहास को सही रूप से नहीं समझा जा सकता।[६९४]

हम यहाँ पर संक्षेप में समवायांग में आये हुए विषयों के साथ सूर्यप्रज्ञप्ति की तुलना करेंगे।

समवायांग के प्रथम समवाय के तेईस, चौबीस और पच्चीसवें सूत्र में जिन आर्द्रा, चित्रा और स्वाति नक्षत्रों का वर्णन है वह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[६९५] में भी है।

दूसरे समवाय के चौथे से सातवें सूत्र तक पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा के तारों का वर्णन है। वह सूर्यप्रज्ञप्ति[६९६] में भी प्राप्त है।

तीसरे समवाय के छठे सूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक मृगशिर, पुष्य, जेष्ठा, अभिजित, श्रवण, अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रों का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[६९७] में भी मिलता है।

चौथे समवाय के सातवें, आठवें और नौवें सूत्र में अनुराधा, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा नक्षत्रों के चार तारों का वर्णन है, सूर्यप्रज्ञप्ति[६९८] में भी उन तारों का वर्णन दर्शनीय है।

पाँचवें समवाय के नौवें सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक रोहिणी, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, धनिष्ठा नक्षत्रों के पाँच-पाँच तारों का वर्णन है, सूर्यप्रज्ञप्ति[६९९] में भी वह वर्णन इसी तरह मिलता है।

छठे समवाय के सातवे एवं आठवें सूत्र में कृत्तिका, अश्लेषा नक्षत्र के छह-छह तारे बताये हैं तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७००] में भी उनका उल्लेख है।

सातवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र तक मघा, कृत्तिका, अनुराधा और धनिष्ठा नक्षत्रों के तारे तथा उनके द्वारों का वर्णन है तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७०१] में भी वह मिलता है।

आठवें समवाय के नौवें सूत्र में 'अट्ठनक्खत्ता चंदेणं ····· तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७०२] में भी चन्द्र के साथ प्रमर्द योग करने वाले कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा इन आठ नक्षत्रों का वर्णन है।

नौवें समवाय के पाँचवें, छठे और सातवें सूत्र में अभिजित् नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने का वर्णन है तथा रत्नप्रभा पृथ्वी से नौ सौ योजन ऊँचे तारा है, यह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७०३] में भी है। समवायांग और सूर्यप्रज्ञप्ति में अन्तर इतना ही है कि समवायांग में अभिजित् का चन्द्र के साथ योगकाल ९ मुहूर्त का बताया है तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७०४] में १२ मुहूर्त का बताया है।

ग्यारहवें समवाय के दूसरे, तीसरे और पाँचवें सूत्र में ज्योतिष चक्र के प्रारंभ का वर्णन है और मूल नक्षत्र के ग्यारह तारे बताये हैं, यह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७०५] में भी मिलता है।

बारहवें समवाय के आठवें और नौवें सूत्र में जघन्य रात और दिन बारह मुहूर्त के बताये हैं तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७०६] में भी उसका निरूपण हुआ है।

पंद्रहवें समवाय के तीसरे और चौथे सूत्र में ध्रुवराहु का चन्द्र को आवृत और अनावृत करने का वर्णन है तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७०७] में भी वह वर्णन द्रष्टव्य है।

अठारहवें समवाय के आठवें सूत्र में पौष और आषाढ़ मास में एक दिन उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का होता है तथा एक रात्रि अठारह मुहूर्त की होती है। सूर्यप्रज्ञप्ति[७०८] में भी यही वर्णन उपलब्ध है।

उन्नीसवें समवाय के द्वितीय सूत्र में जम्बूद्वीप में सूर्य ऊँचे और नीचे उन्नीस सौ योजन ताप पहुँचाता है। यही वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७०९] में भी है।

चौबीसवें समवाय के चौथे सूत्र में वर्णन है–उत्तरायण में रहा हुआ सूर्य चौबीस अंगुल प्रमाण प्रथम प्रहर की छाया करके पीछे मुड़ता है। यह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७१०] में भी है।

सत्ताईसवें समवाय के दूसरे और तीसरे सूत्र में क्रमशः यह वर्णन है कि जम्बूद्वीप में अभिजित को छोड़कर सत्ताईस नक्षत्रों से व्यवहार होता है और नक्षत्र मास सत्ताईस अहोरात्रि का होता है। वह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७११] में भी है।

उनतीसवें समवाय के तीसरे से सातवें सूत्र तक जो वर्णन है, वह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७१२] में भी उपलब्ध है।

तीसवें समवाय के तीसरे सूत्र में तीस मुहूर्तों के नाम बताये हैं, वे नाम सूर्यप्रज्ञप्ति[७१३] में भी मिलते हैं।

इकत्तीसवें समवाय के चौथे और पाँचवें सूत्र में क्रमशः अधिक मास कुछ अधिक इकत्तीस रात्रि का बताया है और सूर्यमास कुछ न्यून इकत्तीस अहोरात्रि का बताया है। सूर्यप्रज्ञप्ति[७१४] में यही है।

बत्तीसवें समवाय के पाँचवें सूत्र में रेवती नक्षत्र के बत्तीस तारे बताये हैं तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७१५] में भी यह वर्णन है।

छत्तीसवें समवाय के चौथे सूत्र में चैत्र और आश्विन मास में एक दिन पौरुषी छाया का प्रमाण छत्तीस अंगुल का होता कहा है तो सूर्यप्रज्ञप्ति[७१६] में भी यही वर्णन है।

सैंतीसवें समवाय के पाँचवें सूत्र में कार्तिक कृष्णा सप्तमी के दिन सूर्य सैंतीस अंगुल प्रमाण पौरुषी छाया करके गति करता है। यह वर्णन सूर्य प्रज्ञप्ति[७१७] में भी है।

चालीसवें समवाय के छठे सूत्र में फाल्गुन पूर्णिमा के दिन सूर्य चालीस अंगुलप्रमाण पौरुषी छाया करके गति करता है। यह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७१८] में भी है।

पैंतालीसवें समवाय के सातवें सूत्र में डेढ़ क्षेत्र वाले सभी नक्षत्र चन्द्र के साथ पैंतालीस मुहूर्त का योग करते हैं। यह वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७१९] में भी है।

छप्पनवें समवाय के प्रथम सूत्र में जम्बूद्वीप में छप्पन नक्षत्रों ने चन्द्र के साथ योग किया व करते हैं, यही वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७२०] में भी उपलब्ध होता है।

बासठवें समवाय के प्रथम सूत्र में वर्णन है कि पाँच संवत्सर वाले युग की बासठ पूर्णिमाएँ और बासठ अमावस्याएँ होती हैं, यह वर्णन सूत्रप्रज्ञप्ति[७२१] में भी है।

इकहत्तरवें समवाय के प्रथम सूत्र में वर्णन है कि चौथे चन्द्र-संवत्सर की हेमन्त ऋतु के इकहत्तर अहोरात्रि व्यतीत होने पर सर्वबाह्य मण्डल से सूर्य पुनरावृत्ति करता है। यही वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७२२] में प्राप्त है।

बहत्तरवें समवाय का पाँचवाँ सूत्र है, पुष्करार्ध द्वीप में बहत्तर चन्द्र व सूर्य प्रकाश करते हैं। यही वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७२३] में भी है।

अठासीवें समवाय के प्रथम सूत्र में वर्णन है कि प्रत्येक चन्द्र, सूर्य का अठासी-अठासी ग्रह का परिवार है। यही वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति[७२४] में भी प्राप्त होता है।

अठानवेवें समवाय के चतुर्थ सूत्र से लेकर सातवें सूत्र तक जो वर्णन है, वह सूर्यप्रज्ञप्ति[७२५] में भी इसी तरह मिलता है।

- इस तरह सूर्यप्रज्ञप्ति के साथ समवायांग के अनेक सूत्र मिलते हैं।

समवायांग और उत्तराध्ययन

मूल सूत्रों में उत्तराध्ययन का प्रथम स्थान है। यह आगम भाव-भाषा और शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें धर्म, दर्शन, अध्यात्म, योग आदि का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। हम यहाँ पर संक्षेप में समवायांग में आये हुए विषयों का उत्तराध्ययन में आये हुए विषयों के साथ दिग्दर्शन करेंगे, जिससे समवायांग की महत्ता का सहज ही आभास हो सके।

दूसरे समवाय के तीसरे सूत्र में बन्ध के राग और द्वेष–ये दो प्रकार बताये हैं। तो उत्तराध्ययन[७२६] में भी उन का निरूपण है।

तीसरे समवाय के प्रथम सूत्र में तीन दण्डों का निरूपण है तो उत्तराध्ययन[७२७] में भी वह वर्णन है।

तीसरे समवाय के दूसरे सूत्र में तीन गुप्तियों का उल्लेख है तो उत्तराध्ययन[७२८] में भी गुप्तियों का वर्णन प्राप्त है।

तीसरे समवाय के तीसरे सूत्र में तीन शल्यों का वर्णन है तो उत्तराध्ययन[७२९] में भी शल्यों का वर्णन प्राप्त है।

पाँचवें समवाय के सातवें सूत्र में पाँच समितियों के नाम दिये गये हैं। उत्तराध्ययन[७३०] में उन पर विस्तार से निरूपण है।

छठे समवाय के तीसरे और चौथे सूत्र में बाह्य और आभ्यन्तर तप का वर्णन है। उत्तराध्ययन[७३१] में भी वह प्राप्त है।

सातवें समवाय के प्रथम सूत्र में सप्त भयस्थानों का निरूपण किया गया है, उत्तराध्ययन[७३२] में भी उनके सम्बन्ध में संकेत है।

आठवें समवाय के प्रथम सूत्र में आठ मदस्थानों की चर्चा है तो उत्तराध्ययन[७३३] में भी उनका सूचन है।

आठवें समवाय के दूसरे सूत्र में अष्ट प्रवचनमाताओं के नाम हैं, तो उत्तराध्ययन[७३४] में भी उनका निरूपण है।

नवमें समवाय के प्रथम सूत्र में नव ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ निरूपित हैं तो उत्तराध्ययन[७३५] में भी यह विषय चर्चित है।

नवमें समवाय के ग्यारहवें सूत्र में दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ बतायी हैं तो उत्तराध्ययन[७३६] में भी उनका कथन है।

दशवें समवाय के प्रथम सूत्र में श्रमण के दश धर्मों का वर्णन है, तो उत्तराध्ययन[७३७] में भी उनका संकित है।

ग्यारहवें समवाय के प्रथम सूत्र में उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण है तो उत्तराध्ययन[७३८] में भी संक्षेप में सूचन है।

बारहवें समवाय के पहले सूत्र में भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ गिनाई हैं तो उत्तराध्ययन[७३९] में भी उनकी संक्षेप में सूचना है।

सोलहवें समवाय के पहले सूत्र में सूत्रकृतांग के सोलह अध्ययनों के नाम निर्दिष्ट हैं तो उत्तराध्ययन[७४०] में भी उनका संकित है।

सत्रहवें समवाय के प्रथम सूत्र में सत्रह प्रकार के असंयम बताये हैं, उनका निर्देश उत्तराध्ययन[७४१] में भी है।

अठारहवें समवाय के प्रथम सूत्र में ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार बताये हैं, इनका संकित उत्तराध्ययन[७४२] में भी प्राप्त होता है।

उन्नीसवें समवाय के प्रथम सूत्र में ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों के नाम आये हैं तो उत्तराध्ययन[७४३] में उनका संकित है।

बाईसवें समवाय के प्रथम सूत्र में बाईस-परीषहों के नाम निर्दिष्ट हैं तो उत्तराध्ययन[७४४] में उनका विस्तार से निरूपण है।

तेईसवें समवाय के प्रथम सूत्र में सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों के नाम हैं, उत्तराध्ययन[७४५] में भी उनका संकित है।

चौबीसवें समवाय के चौथे सूत्र के अनुसार उत्तरायण में रहा हुआ सूर्य चौबीस अंगुल प्रमाण प्रथम प्रहर की छाया करता हुआ पीछे मुड़ता है, यह वर्णन उत्तराध्ययन[७४६] में भी है।

सत्ताईसवें समवाय के प्रथम सूत्र में अनगार के सत्ताईस गुण प्रतिपादित हैं, तो उत्तराध्ययन[७४७] में भी उनका सूचन है।

तीसवें समवाय के प्रथम सूत्र में मोहनीय के तीस स्थान बताये हैं, उत्तराध्ययन[७४८] में भी इसका निर्देश है।

इकत्तीसवें समवाय के प्रथम सूत्र में सिद्धों के इकत्तीस गुण कहे हैं, तो उत्तराध्ययन[७४९] में भी इनका संकित है।

बत्तीसवें समवाय के प्रथम सूत्र में योगसंग्रह के बत्तीस प्रकार बताये हैं, उत्तराध्ययन[७५०] में भी उनकी सूचना है।

तेतीसवें समवाय के प्रथम सूत्र में तेतीस आशातनाओं का नाम-निर्देश है तो उत्तराध्ययन[७५१] में भी इनका सूचन किया गया है।

छत्तीसवें समवाय के प्रथम सूत्र में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के नाम आये हैं।[७५२]

उनहत्तरवें समवाय के तीसरे सूत्र में मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष सात मूल कर्म-प्रकृतियों की उनहत्तर उत्तर कर्म-प्रकृतियाँ बतायी हैं। यह वर्णन उत्तराध्ययन[७५३] में भी प्राप्त है।

सत्तरवें समवाय के चौथे सूत्र के अनुसार मोहनीय कर्म की स्थिति, अबाधाकाल सात-हजार वर्ष छोड़कर सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की बतायी है। उत्तराध्ययन[७५४] में यही वर्णन मिलता है।

सत्तासीवें समवाय के पाँचवें सूत्र के अनुसार प्रथम और अन्तिम को छोड़कर छह मूल कर्मप्रकृतियों की सत्तासी उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं, यही वर्णन उत्तराध्ययन[७५५] में भी है।

सत्तानवेवें समवाय के तीसरे सूत्र के अनुसार आठ मूल कर्म-प्रकृतियों की सत्तानवें उत्तरकर्म-प्रकृतियाँ हैं, यही वर्णन उत्तराध्ययन[७५६] में प्राप्त है।

इस तरह उत्तराध्ययन में समवायांगगत ऐसे अनेक विषय हैं, जिनकी उत्तराध्ययन में कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से चर्चा मिलती है।

समवायांग और अनुयोगद्वार

मूल सूत्रों की परिगणना में अनुयोगद्वार का चतुर्थ स्थान है। अनुयोग का अर्थ है–शब्दों की व्याख्या या विवेचन करने की प्रक्रिया-विशेष। समवायांग में आये हुए अनेक विषय अनुयोगद्वार में भी प्रतिपादित हुए हैं।

प्रथम समवाय के छब्बीसवें सूत्र से लेकर चालीसवें सूत्र तक जिन विषयों की चर्चा है, वे विषय अनुयोगद्वार[७५७] में भी चर्चित हैं।

दूसरे समवाय के आठवें सूत्र से लेकर बीसवें सूत्र तक जिन-जिन विषयों की चर्चा की गयी है, वे अनुयोगद्वार[७५८] में चर्चित हुए हैं।

तृतीय समवाय के तेरहवें सूत्र से लेकर इक्कीसवें सूत्र तक जिन विषयों का उल्लेख किया गया है वे विषय अनुयोगद्वार[७५९] में भी आये हैं।

चौथे समवाय के दशवें सूत्र से लेकर सत्रहवें सूत्र तक के विषयों पर अनुयोगद्वारसूत्र[७६०] में भी चिन्तन किया है।

पाँचवें समवाय के चौदहवें सूत्र से लेकर उन्नीसवें सूत्र तक जो भाव प्रज्ञापित हुए हैं, वे अनुयोगद्वार में भी द्रष्टव्य हैं।

छठे समवाय के दसवें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक, और सातवें समवाय के बारहवें सूत्र से लेकर बीसवें सूत्र तक, आठवें समवाय के दशवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक, नौवें समवाय के बारहवें सूत्र से लेकर सत्रहवें सूत्र तक, दशवें समवाय के दशवें सूत्र से लेकर बाईसवें सूत्र तक, ग्यारहवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक, बारहवें समवाय के बारहवें सूत्र तक, तेरहवें समवाय के नवमें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक, चौदहवें समवाय के नवमें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक, पन्द्रहवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक, सोलहवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक, सत्रहवें समवाय के ग्यारहवें सूत्र से लेकर अठारहवें सूत्र तक, अठारहवें समवाय के नवम सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक, उन्नीसवें समवाय के छठे सूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक, बीसवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक, इक्कीसवें समवाय के पाँचवें सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र तक, बाईसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक, तेईसवें समवाय के पाँचवें सूत्र से लेकर दशवें सूत्र तक, चौबीसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक, पच्चीसवें समवाय के दशवें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक, छब्बीसवें समवाय के दूसरे सूत्र से लेकर आठवें सूत्र तक, सत्ताईसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक, अट्ठाईसवें समवाय के छठे सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र तक, उनतीसवें समवाय के दशवें सूत्र से लेकर पन्द्रहवें सूत्र तक, तीसवें समवाय के आठवें सूत्र से लेकर तेरहवें सूत्र तक, इकत्तीसवें समवाय के छठे सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र तक, बत्तीसवें समवाय के सातवें सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र तक, तेतीसवें समवाय के पाँचवें सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र तक, जिन-जिन विषयों का वर्णन आया है वे विषय अनुयोगद्वार[७६१] में भी कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार से चर्चित हैं।

इस तरह समवायांग का विषय-वर्णन इतना अधिक व्यापक है कि आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर उस सम्बन्ध में विचारचर्चाएँ की गई हैं। आगमों में कहीं पर सूत्र शैली का उपयोग हुआ है तो कहीं पर जिज्ञासुओं को समझाने के लिए व्यासशैली का उपयोग भी हुआ है। हमने उपर्युक्त पंक्तियों में मुख्य रूप से समवायांगगत विषय जिन आगमों में आये हैं, उन पर सप्रमाण चिन्तन किया है। यों दशवैकालिक, नन्दी, दशाश्रुतस्कंध व कल्पसूत्र के विषय भी कुछ समवायांग के साथ मिलते हैं पर उनकी संख्या अधिक न होने से हमने उनका यहाँ पर उल्लेख नहीं किया है और न आगमेतर ग्रन्थों के साथ विषयों की तुलना की है।

वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों के विषयों के साथ भी समवायांगगत विषयों की तुलना सहजरूप से की जा सकती है। यों संक्षेप में यथास्थान उनका उल्लेख किया गया है। आज आवश्यकता है आगम साहित्य की अन्य साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने की। मूर्धन्य मनीषियों का ध्यान इस ओर केन्द्रित हो तो समन्वय और सत्य के अनेक द्वार उद्घाटित हो सकते हैं। ■

व्याख्या-साहित्य

समवायांग सूत्र में न दर्शन सम्बन्धी गहन गुत्थियाँ हैं और न अध्यात्म सम्बन्धी गंभीर विवेचन ही है। जो भी विषय निरूपित हैं वे सहज, सुगम और सुबोध हैं, जिसके कारण इस पर न निर्युक्तियाँ लिखी गईं और न भाष्य का निर्माण ही किया गया और न चूर्णियाँ ही रची गईं। सर्वप्रथम नवांगी-टीकाकार आचार्य अभयदेव ने इस पर वृत्ति का निर्माण किया। यह वृत्ति न अतिसंक्षिप्त है और न अतिविस्तृत ही। वृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य ने श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया है, क्योंकि प्रस्तुत आगम के अर्थ-प्ररूपक भगवान् महावीर हैं। आचार्य अभयदेव ने विज्ञों से यह अभ्यर्थना की है कि मेरे सामने आगम के गुरुगंभीर रहस्यों को उद्घाटित करने वाली अर्थपरम्परा का अभाव है, अतः कहीं पर विपरीत अर्थप्ररूपणा हो गई हो तो विज्ञगण परिष्कृत करने का अनुग्रह[७६२] करें।

वृत्ति में आचार्य ने समवाय शब्द की व्याख्या भी की है। व्याख्या करते हुए अनेक स्थलों पर पाठान्तरों के उल्लेख भी किये हैं।[७६३] प्रज्ञापना सूत्र तथा गन्धहस्ती के भाष्य का भी उल्लेख है। यह वृत्ति वि. सं. ११२० में अणहिल पाटण में लिखी गयी है। इस का ग्रन्थमान ३५७५ श्लोक-प्रमाण है।

इस आगम पर दूसरी संस्कृत टीका करने वाले पूज्य श्री घासीलालजी म. हैं।[७६४] उन्होंने आचार्य अभयदेव का अनुसरण करते हुए टीका का निर्माण किया है। यह टीका अपने ढंग की है। कहीं-कहीं पर टीकाकार ने अपनी दृष्टि से अर्थ की संगति के लिये मूल पाठ में भी परिवर्तन कर दिया है। जैसे आगामी काल के उत्सर्पिणी में होने वाले तीर्थंकरों के नामों में परिवर्तन हुआ है।[७६५] हमारी दृष्टि से, टीका या विवेचन में लेखक अपने स्वतन्त्र विचार दें, इस में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु मूल पाठों में परिवर्तन करने से उनकी प्रामाणिकता लुप्त हो जाती है। अतः पाठों को परिवर्तित करना उचित नहीं।

समवायांगसूत्र का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद करने वाले आचार्य अमोलक ऋषि जी म. हुए हैं। उन्होंने बत्तीस आगमों का हिन्दी में अनुवाद कर महान् श्रुतसेवा की है।[७६६]

गुजराती भाषा में पण्डितप्रवर दलसुखभाई मालवणिया[७६७] ने महत्त्वपूर्ण अनुवाद किया है। यह अनुवाद अनुवाद न होकर एक विशिष्ट रचना हो गई है। सर्वत्र

मालवणियाजी का पाण्डित्य छलकता है। उन्होंने अनुवाद के साथ जो टिप्पण दिये हैं वे उनके गम्भीर अध्ययन के द्योतक हैं। अनुसन्धानकर्ताओं के लिये यह संस्करण अत्यन्त उपयोगी है।

पण्डितप्रवर मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने हिन्दी अनुवाद के साथ समवायांग का प्रकाशन किया है। ग्रन्थ का परिशिष्ट विभाग महत्त्वपूर्ण है। यह संस्करण जिज्ञासुओं के लिए श्रेयस्कर है।[७६८]

आचार्य अभयदेव वृत्ति सहित सर्वप्रथम सन् १८८० में रायबहादुर धनपतसिंह जी ने एक संस्करण प्रकाशित किया और उसके पश्चात् सन् १९१९ में आगमोदय समिति सूरत से उसका अभिनव संस्करण प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् सन् १९३८ में मफतलाल झवेरचन्द ने अहमदाबाद से वृत्ति सहित ही एक संस्करण मुद्रित किया। विक्रम संवत् १९९५ में जैनधर्म प्रचारक सभा भावनगर से गुजराती अनुवाद सहित संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

केवल मूलपाठ के रूप में "सुत्तागमे"[७६९] अंगसुत्ताणि,[७७०] अंगपविट्ठाणि[७७१] आदि अन्य अंग-आगमों के साथ यह आगम भी प्रकाशित है।

इन संस्करणों के अतिरिक्त स्थानकवासी जैन समाज के प्रबुद्ध आचार्य श्री धर्मसिंह मुनि ने समवायांग पर मूलस्पर्शी शब्दार्थ को स्पष्ट करने वाला टब्बा लिखा था पर वह अभी तक अप्रकाशित है।

इस तरह समय-समय पर समवायांग सूत्र के संस्करण प्रकाशित होते रहे हैं। आगम प्रकाशन समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित संस्करण के प्रधान सम्पादक हैं–श्रमण सघ के तेजस्वी युवाचार्य मधुकर मुनि जी म. । यह गौरव की चीज है।

■

सन्दर्भस्थल

टिप्पण–

१. समवायांग, द्वादशांगाधिकार।
२. समिति-सम्यक् अवेत्याधिक्येन अयनमयः–परिच्छेदो, जीवाजीवादिविविधपदार्थ-सार्थस्य यस्मिन्नसौ समवायः, समवयन्ति वा–समवसरन्ति सम्मिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति। –समावायांगवृत्ति, पत्र १
३. सं–संग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्यक्षेत्रकाल-भावानाश्रित्य अस्मिन्निति समवायांगम्।
–गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवप्रबोधिनी टीका, गा. ३५६
४. से किं तं समवाए ? समवाए णं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवाजीवा समासिज्जंति। ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमयपरसमए समासिज्जइ। लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोयालोए समासिज्जइ। समवाए णं एगाइयाणं एगुत्तरियाणं ठाणसयं निवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ। दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ।
–नन्दीसूत्र–८३
५. समवायांग, प्रकीर्णक
६. च चवदस्य चान्यत्र सम्बन्धादेकोत्तरिका अनेकोत्तरिका च तत्र शतं यावदेकोत्तरिका परतोऽनेकोत्तरिकेति। –समवायांग वृत्ति, पत्र १०५
७. भगवतीसूत्र, शतक ५, उ. ५, पृ. ८३६ –भाग २ सैलाना (म. प्र.)
८. एवं जहा समवाए निरवसेसं ..... ।
–स्थानाङ्ग ९, सूत्र ६७२, मुनि कन्हैयालालजी 'कमल'
९. भायणं सव्वदव्वयाणं–उत्तराध्ययन २८/९
१०. उत्तराध्ययन, सूत्र २८/७
११. धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। –सांख्य–४४
१२. क–प्रवचनसार १, ९, ११, १२, १३, २, ८९.
ख–समयसार–१५५-१६१
१३. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्व-नन्तानन्तप्रदेशाः। –तत्त्वार्थसूत्र ८/१४
१४. जीवाद् विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः। –आप्तपरीक्षा–११५
१५. सोवक्कमाउया पुण, सेसतिभागे अहव नवमभागे।
सत्तावीसइमे वा, अंतमुहुत्तं तिमवावि। –संग्रहणी सूत्र गा, ३०२
१६. क–राजवार्तिक ७।१४।४०।१७
ख–द्रव्यसंग्रह ३६।१५०
ग–भावनाशतक ६७

१७. योगशास्त्र ४।८६
१८. क–महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक १०१
ख–प्रवचनसार ४।३८
१९. उपभोगपरिभोगौ अस्याऽगारिणोऽर्थः। तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः। –तत्त्वार्थभाष्य ७-१६
२०. उपासकदशांग, १-टीका
२१. समवायांग सूत्र १४९, अभयदेव वृत्ति
२२. जैन आगम साहित्य–मनन और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ. २३९ से २४१
२३. अंगुत्तरनिकाय ३, ९७ तथा ६।३९
२४. (क) उत्तराध्ययन अ. २४, गा. २६
(ख) सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। –तत्त्वार्थसूत्र ९/४
(ग) ज्ञानार्णव १८/४
(घ) आर्हत् दर्शन दीपिका ५/६४२
(ङ) गोपनं गुप्तिः–मनः प्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्तनमकुशलानांम् च निवर्त्तनमिति।
२५. रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति। –मूलाराधना ६/११८७
२६. योगशास्त्र १/४२
२७. उत्तराध्ययन २४/२४-२५
२८. उत्तराध्ययन २४/२५
२९. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। –प्रमेयरत्नमाला-१
३०. तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे॥ –छहढाला ४/६
३१. छहढाला ३/२
३२. क–आवश्यक निर्युक्ति १४५९
ख–ध्यानशतक-२
ग–नव पदार्थ-पृ. ६६८
३३. क–ध्यानशतक ३
ख–तत्त्वार्थसूत्र ९/२८
ग–योगप्रदीप १५/३३
३४. योगप्रदीप १३८
३५. तत्त्वानुशासन ६०-६१
३६. ज्ञानार्णव, अध्याय २८
३७. योगशास्त्र ७/१
३८. तत्त्वानुशासन ६७
३९. स्थानांग ४/२४७
४०. भगवती श. २५ उद्दे. ७
४१. आवश्यकनिर्युक्ति, १४५८
४२. स्थानांग ४/२४७
४३. क–स्थानांग ४/२४७;
ख–आवश्यक अध्ययन-४
४४. क–तत्त्वार्थ सूत्र ९/३६
ख–ज्ञानार्णव २४/३
४५. ज्ञानसार, १६
४६. ध्यानशतक ३०-३४
४७. चतसो भावना धन्याः, पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मसिद्धये॥ –ज्ञानार्णव २५/४
४८. ध्यानशतक, श्लोक ३८, ३९
४९. क–स्थानांग, ख–योगशास्त्र १०/७, ग–ज्ञानार्णव ३०/५, घ–तत्त्वानुशासन ९/८
५०. योगशास्त्र १०-८, ९, ख–ज्ञानार्णव-३८
५१. योगशास्त्र ७/८

५२. योगसार-९८
५३. योगसार प्राभृत
५४. योगशतक
५५. ज्ञानार्णव–३५-१, २
५६. ज्ञानार्णव–३५/७-८
५७. अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते –योगशास्त्र ९/७
५८. क–ज्ञानार्णव ३७-१६
ख–योगशास्त्र १०/१
५९. योगशास्त्र १०/३,४
६०. योगशतक ९०
६१. योगशास्त्र ११/२
६२. स्थानांगसूत्र स्था. ४
६३. ज्ञानार्णव–४२-१५-१६
६४. क–योगशतक ११/५
ख–ध्यानशतक ७/७/७८
६५. क–योगशास्त्र ११/१२,
ख–ज्ञानार्णव ३९-२६
६६. योगशास्त्र ११–५३ से ५५
६७. ज्ञानार्णव ३९–४७,४९
६८. क–उत्तराध्ययन, अ. ३४ गा. ९,
ख–आवश्यकसूत्र अ. ४
६९. अंगुत्तरनिकाय १०-६९
७०. स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, सूत्र २८२
७१. स्थानांग, स्था. ४, सूत्र ५६९
७२. स्थानांग, स्था. १० सूत्र-७५१
७३. स्थानांग सूत्र–२१, ५२
७४. प्रज्ञापनासूत्र–२२
७५. आचारांग ८।१५
७६. स्थानांग २६६
७७. उत्तराध्ययन २३।२३
७८. दीघनिकाय
७९. प्रश्नव्याकरण सूत्र–६/१०
८०. दशवैकालिक सूत्र, अ. ४
८१. भगवती सूत्र, शतक ७, उद्दे. २, पृ. १३५
८२. तत्वार्थ सूत्र–अ. ७
८३. मज्झिमनिकाय–सम्मादिट्ठी सुत्तन्त १/९
८४. उत्तराध्ययन २४ गाथा–२६
८५. स्थानांग स्था ८, सूत्र ६०३ की टीका
८६. स्थानांग सूत्र–सू. २२१, १३२, १५१, ५०४, ३१९
८७. उत्तराध्ययनसूत्र–अ. ३४
८८. प्रज्ञापना सूत्र–पद १७
८९. लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते –आवश्यकचूर्णि
९०. क–उत्तराध्ययन ३०/२५
ख–स्थानांग–६
९१. क–पिण्डनिर्युक्ति ९२ से ९६
ख–उत्तराध्ययन २४/१२
९२. आवश्यक निर्युक्ति, १५४७
९३. स्थानांग सूत्र, स्था. ७, सू-५५४
९४. उववाईसूत्र-समवसरण अधिकार
९५. भगवती २५/७
९६. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३०
९७. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९/२२/१
९८. पंचाशक सटीक विवरण १६/३
९९. प्रवचनसारोद्धारवृत्ति
१००. भगवती २५/७
१०१. स्थानांग–स्था. ७
१०२. औपपातिक–तपवर्णन
१०३. क–भगवती सूत्र–३५/७
ख–स्थानांग–१०
१०४. स्थानांग अभयदेववृत्ति ५-३-४६५
१०५. तैत्तिरीय आरण्यक २/१४
१०६. तैत्तिरीय उपनिषद्–१-११-१
१०७. क–भगवती २५/७
ख–स्थानांग–५

१०८. तत्त्वार्थ राजवार्मिक ९/२६/१०
१०९. भगवती २५/७
११०. अंगुत्तरनिकाय ४/११९/५-७
१११. स्थानांग स्था. ८
११२. सूत्रकृतांग-१/२/१-२
११३. अंगुत्तरनिकाय-३/३९
११४. भगवती सूत्र-२५।६। पृ-७२
११५. स्थानांग सूत्र-स्था. ८
११६. उत्तराध्ययन-अ. २४।३
११७. उत्तराध्ययन-अ. २८।२९
११८. नन्दीसूत्र स्थविरावली गाथा-१
११९. भगवान् पार्श्व-एक समीक्षात्मक अध्ययन : लेखक-श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
१२०. प्रश्नव्याकरण सूत्र-संवरद्वार
१२१. पातंजल योगदर्शन-२-३८
१२२. अथर्ववेद-१५।५।१७
१२३. उत्तराध्ययन-अ. १६
१२४. अंगुत्तर निकाय-७।४७
१२५. दशाश्रुतस्कन्ध-अ. ५
१२६. दशवैकालिक-अ. ९ उद्दे. ४
१२७. सूत्रकृतांग सूत्र-१।१०
१२८. क-सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा-१०६
ख-उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ३८४
१२९. विशुद्धि मार्ग ३।२-३
१३०. विशुद्धि मार्ग-भाग-२, परिच्छेद १६ पृ. १२१
१३१. पातंजल योगदर्शन-विभूति पाद
१३२. पातंजल योगदर्शन-२-२९
१३३. यह ग्रन्थ हिन्दी, अंग्रेजी और मराठी भाषा में अनेक स्थलों से प्रकाशित है, इस पर अनेक वृत्तियाँ भी हैं।
१३४. (क) प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेति यावत्। -स्थानांगवृत्ति पत्र ६१
(ख) प्रतिमा-प्रतिज्ञा अभिग्रहः। - वही पत्र १८४
(ग) जैन आगम साहित्यः मनन और मीमांसा-पृ. १५२, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
१३५. उपासक दशांग अ. १
१३६. दशाश्रुतस्कन्ध ६-७
१३७. विंशतिविंशिका-१०।१
१३८. वसुनन्दी श्रावकचार
१३९. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-३०५-३०६
१४०. तत्त्वार्थसूत्र-सर्वार्थसिद्धि
१४१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक
१४२. तत्त्वार्थसूत्र श्लोकवार्तिक
१४३. रत्नमाला
१४४. पद्मचरित
१४५. वरांगचरित
१४६. हरिवंशपुराण
१४७. पंचविंशतिका
१४८. भावसंग्रह (प्राकृत)
१४९. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१५०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
१५१. उपासकाध्ययन
१५२. श्रावकाचार
१५३. श्रावकाचार
१५४. सागारधर्मामृत
१५५. धर्मसंग्रह श्रावकाचार
१५६. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
१५७. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप-पृष्ठ-३४५ से ३६०-श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
१५८. स्थानांग सूत्र-सू. ८४, २५१, ३५२, १५१, २३७, आदि

१५९. क–निशीथ भाष्य–उद्दे. ५, गाथा ४९, ५०
ख–व्यवहारभाष्य– उद्दे. ५ गाथा-४७
१६०. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा–१२०२
१६१. स्थानांग-समवायांग पृ. ८१० से ८१२–पं. दलसुख मालवणिया
१६२. भगवती सूत्र-शतक २५ उद्देशक-१, पृ. ३५०
१६३. समयसार गाथा ५५
१६४. प्राकृतपंचसंग्रह १/३-५
१६५. कर्मग्रन्थ ४/१
१६६. गोम्मटसार गाथा ७
१६७. गोम्मटसार गाथा १०
१६८. षड्खण्डागम धवलावृत्ति, प्रथम खण्ड २-१६-६१
१६९. गोम्मटसार गाथा ३
१७०. कर्मग्रन्थ ४-२ ।
१७१, समवायांग वृत्ति पत्र-२६ ।
१७२. गोम्मटसार गाथा १२, १३ ।
१७३. स्थानांग सूत्र–४२९, ३६८, ५२१, ६१४, ७१५, ४३०, ७२, ३१०, ४२८, ५१७, ६४७, ७०९, आदि
१७४. स्थानांगसूत्र–सूत्र २२२
१७५. भगवती सूत्र–शतक-१३, उद्दे. ७, सू–४९६
१७६. उत्तराध्ययन सूत्र अ-५
१७७. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण–एक अनुशीलन
१७८. ज्ञातासूत्र की प्रस्तावना, पृष्ठ–२२ से २४ तक
१७९. स्थानांग सूत्र, सूत्र ४७१
१८०. आवश्यकनिर्युक्ति–गाथा २४३, ४४५, २४८, ४५८
१८१. कल्पसूत्र
१८२. भगवती सूत्र–शतक ८०, उद्देद, पृ. १६१
१८३. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २
१८४. क–उत्तराध्ययन निर्युक्ति–गाथा ६९
ख–उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. ७
१८५. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ८ सू ९ से १७
१८६. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा २७५
१८७. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा २५८
१८८. पासनाहचरियं पृष्ठ ४६०
१८९. तज्जपस्तदर्थभावनम् –पातंजलयोगसूत्रम् १/२८
१९०. सूत्रकृतांग १/१५/५
१९१. उत्तराध्ययन, अ. ३१ गा. १७
१९२. तत्त्वार्थ सूत्र ७/३
१९३. आचारांग सूत्र २/३/१५/४०२
१९४. प्रश्नव्याकरण–संवरद्वार
१९५. षट्प्राभृत में चारित्रप्राभृत गा. ३१
१९६. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७/४-५, ५३७
१९७. सर्वार्थसिद्धि–७/४ पृ. ३४५
१९८. आचारांग सूत्र १/३/१५/४०२
१९९. वही
२००. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
२०१. चारित्रप्राभृत ३२
२०२. चारित्रप्राभृत २२ की टीका
२०३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७/५
२०४. चारित्र प्राभृत गाथा–३४
२०५. तत्त्वार्थ सूत्र–७/७
२०६. उत्तराध्ययन सूत्र–अ. २३
२०७. भगवती सूत्र
२०८. निशीथभाष्य–३
२०९. निशीथभाष्य–५७
२१०. निशीथ चूर्णि पृ. ३०

२११. नन्दीसूत्र–सू. ५९–श्री पुण्यविजय जी म. द्वारा सम्पादित
२१२. तत्त्वार्थसूत्र–१/१३,१४
२१३. तत्त्वार्थभाष्य–१/१३, १४
२१४. तत्त्वार्थराजवार्तिक–१/१४/१/५९ आदि
२१५. विशेषावश्यक भाष्य–वृत्ति १००
२१६. जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण – श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
२१७. स्थानांगसूत्र स्था. ९, सू. ६७८
२१८. दशाश्रुतस्कन्ध–अ. ९
२१९. आवश्यक सूत्र–अ. ४
२२०. आवश्यकबृहद्वृत्ति–अ ४, गा, ७३ से ७७
२२१. (क) दशाश्रुतस्कन्ध–३ दशा
(ख) तत्र आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना खण्डना निरुक्ता आशातना।
२२२. योगशास्त्र पृ. १३०
२२३. (क) अभिधानचिन्तामणि ५६–६३।
(ख) स्थानाङ्ग समावायांग–पं. दलसुख मालवणिया
२२४. लेखक–श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)
२२५. आवश्यक निर्युक्ति–गाथा ४४८
२२६. उत्तरपुराण व हरिवंश पुराण देखिये
२२७. आवश्यक निर्युक्ति-गाथा ३८५, ३८६
२२८. लोकप्रकाश सर्ग-३८, श्लोक २९६
२२९. जैन सिद्धान्त संग्रह, पृ. १९
२३०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वितीय वक्षस्कार में पन्द्रह कुलकर, दिगम्बर ग्रन्थ "सिद्धान्त-संग्रह" में चौदह कुलकर कहे गए हैं।
२३१. ठाण-समवायधरे कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्ताए। –व्यवहारसूत्र उद्देशक ३
२३२. आचारांग श्रु. १ अ. १ उ. ४
२३३. आचारांग श्रु. १ सू. १७९
२३४. आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. १ सू. ६५
२३५. आचारांग श्रु. १ सू. १७९
२३६. आचारांग श्रु. १ अ. १ उ. १ से ७
२३७. आचारांग श्रु. २ अ. १५ उ. १ सू. १६६
२३८. आचारांग श्रु. १ अ. १ से ९
२३९. आचारांग श्रु. २ चु. ३ सू. १७९
२४०. आचारांग श्रु. २ चु. ३ सू १७९
२४१. आचारांग श्रु. १
२४२. समवायांग, समवाय ८२
२४३. आचारांग श्रु. २ अ. २४
२४४. आचारांग श्रु. २
२४५. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२४६. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२४७. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२४८. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२४९. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२५०. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२५१. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२५२. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२५३. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२५४. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५
२५५. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. २
२५६. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. २

२५७. सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. २
२५८. भगवती–शतक १२ उद्देशक १०
२५९. भगवती–शतक १ उ. ४
२६०. भगवती–शत. ११ उ. ११
२६१. भगवती–श. १ उ. ६
२६२. भगवती–श. २५ उ. ७
२६३. भगवती–श. १२ उ. ७
२६४. भगवती–श. १२ उ. ७
२६५. भगवती–श. १ उ. १
२६६. भगवती–श. १ उ. १
२६७. भगवती–श. १ उ. १
२६८. भगवती–श. १ उ. १
२६९. भगवती–श. १ उ. १
२७०. भगवती–श. १ उ. १
२७१. भगवती–श. १ उ. १
२७२. भगवती–श. १ उ. १
२७३. भगवती–श. १ उ. १
२७४. भगवती–शत. १ उ. १
२७५. भगवती–श. १ उ. १
२७६. भगवती–श. १ उ. १
२७७. भगवती–श. १ उ. १
२७८. भगवती–श. ६, १२, उ. १०, २
२७९. भगवती–श. १ उ. १
२८०. भगवती–श. १ उ. १
२८१. भगवती–श. १ उ. १
२८२. भगवती–श. १ उ. १
२८३. भगवती–श. १ उ. १
२८४. भगवती–श. १ उ. १
२८५. भगवती–श. १ उ. १
२८६. भगवती–शत. १ उ. १
२८७. भगवती–श. १ उ. १
२८८. भगवती–श. ६, १२ उ. १०, २
२८९. भगवती–श. १ उ. १
२९०. भगवती–श. १ उ. १
२९१. भगवती–श. १ उ. १
२९२. भगवती–श. १ उ. १
२९३. भगवती–श. १ उ. १
२९४. भगवती–श. १ उ. १
२९५. भगवती–श. ७ उ. १०
२९६. भगवती–श. २ उ. १०
२९७. भगवती–श. १ उ. १
२९८. भगवती–श. १ उ. १
२९९. भगवती–श. १ उ. १
३००. भगवती–श. १ उ. १
३०१. भगवती–श. १ उ. १
३०२. भगवती–श. १ उ. १
३०३. भगवती–श. २५ उ. ७
३०४. भगवती–श. २५ उ. ७
३०५. भगवती–श. १३ उ. १०
३०६. भगवती–श. १ उ. १
३०७. भगवती–श. १ उ. १
३०८. भगवती–श. १ उ. १
३०९. भगवती–श. १ उ. १
३१०. भगवती–श. १ उ. १
३११. भगवती–श. १ उ. १
३१२. भगवती–श. १ उ. १
३१३. भगवती–श. १ उ. १
३१४. भगवती–श. १ उ. १
३१५. भगवती–श. १ उ. १
३१६. भगवती–श. १ उ. १
३१७. भगवती–श. १ उ. १
३१८. भगवती–श. १ उ. १
३१९. भगवती–श. १ उ. १
३२०. भगवती–श. १ उ. १
३२१. भगवती–श. १ उ. १
३२२. भगवती–श. १ उ. १
३२३. भगवती–श. १ उ. १
३२४. भगवती–श. १ उ. १

३२५. भगवती–श. १ उ. १
३२६. भगवती–श. १ उ. १
३२७. भगवती–श. १ उ. १
३२८. भगवती–श. १ उ. १
३२९. भगवती–श. १ उ. १
३३०. भगवती–श. १ उ. १
३३१. भगवती–श. १ उ. १
३३२. भगवती–श. १ उ. १
३३३. भगवती–श. १ उ. ४
३३४. भगवती–श. १ उ. १
३३५. भगवती–श. १ उ. १
३३६. भगवती–श. १ उ. १
३३७. भगवती–श. १ उ. १
३३८. भगवती–श. १ उ. १
३३९. भगवती–श. १ उ. १
३४०. भगवती–श. १ उ. १
३४१. भगवती–श. १ उ. १
३४२. भगवती–श. १ उ. १
३४३. भगवती–श. १ उ. १
३४४. भगवती–श. १ उ. १
३४५. भगवती–श. १ उ. १
३४६. भगवती–श. १ उ. १
३४७. भगवती–श. १ उ. १
३४८. भगवती–श. १ उ. १
३४९. भगवती–श. १ उ. १
३५०. भगवती–श. १ उ. १
३५१. भगवती–श. १ उ. १
३५२. भगवती–श. १ उ. १
३५३. भगवती–श. १ उ. १
३५४. भगवती–श. १ उ. १
३५५. भगवती–श. १ उ. १
३५६. भगवती–श. १ उ. १
३५७. भगवती–श. १ उ. १
३५८. भगवती–श. १ उ. १
३५९. भगवती–श. १ उ. १
३६०. भगवती–श. १ उ. १
३६१. भगवती–श. १ उ. १
३६२. भगवती–श. १ उ. १
३६३. भगवती–श. १ उ. १
३६४. भगवती–श. १ उ. १
३६५. भगवती–श. १ उ. १
३६६. भगवती–श. १ उ. १
३६७. भगवती–श. १ उ. १
३६८. भगवती–श. १ उ. १
३६९. भगवती–श. १ उ. १
३७०. भगवती–श. १ उ. १
३७१. भगवती–श. १ उ. १
३७२. भगवती–श. १ उ. १
३७३. भगवती–श. १ उ. १
३७४. भगवती–श. १ उ. १
३७५. भगवती–श. १ उ. १
३७६. भगवती–श. १ उ. १
३७७. भगवती–श. १ उ. १
३७८. भगवती–श. १ उ. १
३७९. भगवती–श. २५ उ. १
३८०. भगवती–श. १ उ. १
३८१. भगवती–श. १ उ. १
३८२. भगवती–श. १ उ. १
३८३. भगवती–श. १ उ. १
३८४. भगवती–श. १ उ. १
३८५. भगवती–श. १ उ. १
३८६. भगवती–श. १ उ. १
३८७. भगवती–श. ११ उ. ११
३८८. भगवती–श. १ उ. १
३८९. भगवती–श. १ उ. १
३९०. भगवती–श. १ उ. १
३९१. भगवती–श. १ उ. १
३९२. भगवती शतक १ उद्देशक १
३९३. भगवती शतक १ उद्देशक १
३९४. भगवती शतक १ उद्देशक १

३९५. भगवती शतक १ उद्देशक १
३९६. भगवती शतक २० उद्देशक १
३९७. भगवती शतक ३ उद्देशक १
३९८. भगवती शतक १३ उद्देशक ७
३९९. भगवती श. १ उ. १
४००. भगवती श. ११ उ. १
४०१. भगवती श. १ उ. १
४०२. भगवती श. ८ उ. ८
४०३. भगवती श. १ उ. १
४०४. भगवती श. ६ उ. ७
४०५. भगवती श. १ उ. १
४०६. भगवती श. ८ उ. ८
४०७. भगवती श. ८ उ. १०
४०८. भगवती श. १ उ. १
४०९. भगवती श. १ उ. १
४१०. भगवती श. १ उ. १
४११. भगवती–श. २ उ. -
४१२. भगवती–श. १ उ. १
४१३. भगवती–श. १ उ. १
४१४. भगवती–श. १ उ. १
४१५. भगवती–श. १ उ. १
४१६. भगवती–श. ८ उ. २
४१७. भगवती–श. १ उ. १
४१८. भगवती–श. १ उ. १
४१९. भगवती–श. १५
४२०. भगवती–श. १ उ. १
४२१. भगवती–श. ३ उ. ८
४२२. भगवती–श. ८ उ. २
४२३. भगवती–श. १ उ. १
४२४. भगवती–श. ८ उ. २
४२५. भगवती–श. ३ उ. ७
४२६. भगवती–श. १ उ. १
४२७. भगवती–श. १३ उ. ६
४२८. भगवती–श. १२ उ. ५
४२९. भगवती–श. ७ उ. २ सू. ११०
४३०. भगवती–श. ३ उ. ७
४३१. भगवती–उपसंहार
४३२. प्रश्नव्याकरण–५ संवरद्वार
४३३. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४३४. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४३५. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४३६. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४३७. प्रश्नव्याकरण ५वां संवरद्वार
४३८. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४३९. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४४०. प्रश्नव्याकरण आश्रवद्वार
४४१. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
४४२. प्रश्नव्याकरण ५वां संवरद्वार
४४३. प्रश्नव्याकरण ५वां संवरद्वार
४४४. प्रश्नव्याकरण ५ संवरद्वार
४४५. प्रश्नव्याकरण आश्रवद्वार ४
४४६. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४४७. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४४८. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४४९. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५०. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५१. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ४
४५२. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५३. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५४. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५५. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५६. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ५
४५७. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
४५८. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
४५९. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
४६०. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
४६१. औपपातिक २०
४६२. औपपातिक ५६
४६३. औपपातिक ५६
४६४. औपपातिक ३४

४६५. औपपातिक ३४
४६६. औपपातिक ३४
४६७. औपपातिक सूत्र ३०
४६८. औपपातिक सूत्र ३०
४६९. औपपातिक सूत्र १०
४७०. औपपातिक सूत्र ४२
४७१. औपपातिक सूत्र ४३
४७२. औपपातिक सूत्र १०
४७३. औपपातिक सूत्र १०
४७४. औपपातिक सूत्र ४३
४७५. औपपातिक सूत्र २०
४७६. जीवाभिगम प्र. १, सूत्र १
४७७. जीवाभिगम प्र. ५, सूत्र २२८
४७८. जीवाभिगम प्र. ३, सूत्र १३२
४७९. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १३२
४८०. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १३५
४८१. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ९७
४८२. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १७८
४८३. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १५९
४८४. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १७३
४८५. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ६८
४८६. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ७०
४८७. जीवाभिगम-प्र. २, सूत्र २१०
४८८. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ८१
४८९. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ८१
४९०. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १३५
४९१. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १३७
४९२. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ८१
४९३. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ८१
४९४. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १७५
४९५. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १५८
४९६. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ८
४९७. जीवाभिगम-प्र. ३
४९८. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १२९
४९९. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १५८
५००. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १८३
५०१. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १७७
५०२. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १६१
५०३. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र १७७
५०४. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २, सूत्र १७६
५०५. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २, सूत्र १५८
५०६. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २, सूत्र १५६, उद्दे. १, सूत्र. ७६, उद्दे. २, सूत्र १४५
५०७. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. १, सूत्र ७२
५०८. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. १, सूत्र ८१
५०९. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २,
५१०. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २, सूत्र १८३
५११. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. १, सूत्र ७९
५१२. जीवाभिगम-प्र. ३,
५१३. जीवाभिगम-प्र. ३, सूत्र ७९
५१४. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २, सूत्र १९४
५१५. जीवाभिगम-प्र. ३, उद्दे. २, सूत्र १७५
५१६. जीवाभिगम-प्र. ३, उ. २, सू. १५६
५१७. जीवाभिगम-प्र. ३, उ. २, सू. १५०
५१८. जीवाभिगम-प्र. ३, उ. १, सू. २११
५१९. जीवाभिगम-प्र. ३, उ. १, सू. २११
५२०. जीवाभिगम-प्र. ३, उ. १, सू. २११

५२१. जीवाभिगम–प्र. ३, उ. १, सू. २११
५२२. जीवाभिगम–प्र. ३, उ. १, सू. २११, १९५
५२३. जीवाभिगम–प्र. ३
५२४. जीवाभिगम–प्र. ३ सू. १७३
५२५. जीवाभिगम–प्र. ३ उ. २ सू. १७४
५२६. जीवाभिगम–प्र. ३ उ. २ सू. १५४
५२७. प्रज्ञापना–पद २२
५२८. प्रज्ञापना–पद २
५२९. प्रज्ञापना–पद २
५३०. प्रज्ञापना–पद ४ सू. ९४
५३१. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र–९४, ९५, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३
५३२. प्रज्ञापना–पद ७ सूत्र १४६
५३३. प्रज्ञापना–पद २८ सू. ३०४
५३४. प्रज्ञापना–पद १ सू. १
५३५. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,९८,९९,१०२,१०३; पद ७, सूत्र १४६; पद २८ सूत्र ३०३
५३६. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,९८,९९,१०२; पद ७, सूत्र १४६, पद २८, सूत्र ३०६
५३७. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५३८. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५३९. प्रज्ञापना–पद १७, सूत्र २१४
५४०. प्रज्ञापना–पद १, सूत्र १२
५४१. प्रज्ञापना–पद ३६, सूत्र ३३१
५४२. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,१०२,१०३; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सू. ३०६
५४३. प्रज्ञापना–पद ३६, सू. ३३१
५४४. प्रज्ञापना–पद ४ सू. ९४,९५,१०२,१०३, पद ७, सू. १४६, पद २८, सू. ३०६
५४५. प्रज्ञापना–पद ३६ सू. ३३१
५४६. प्रज्ञापना–पद ४, सू. ९४,९५,१०२,१०३; पद ७, सू. १४६; पद २८, सू. ३०४
५४७. प्रज्ञापना पद ४, सू. ९४,९५,१०२,१०३; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५४८. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,९६,१००,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५४९. प्रज्ञापना–पद, २, सूत्र ५३
५५०. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५५१. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५५२. प्रज्ञापना–पद १६, सूत्र २०२
५५३. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५५४. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४, ९५, १०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५५५. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सूत्र ३०४

५५६. प्रज्ञापना–पद १४, सूत्र १८८
५५७. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५५८. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५५९. प्रज्ञापना–पद १, सूत्र ३७
५६०. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५६१. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सू. १४६; पद २८, सू. ३०४
५६२. प्रज्ञापना–पद ५, सूत्र ५३
५६३. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५६४. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५६५. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०४
५६६. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५६७. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५६८. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५६९. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५७०. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५७१. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
५७२. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९४,९५,१०२; पद ७, सूत्र १४६; पद २८, सूत्र ३०६
५७३. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४६
५७४. प्रज्ञापना–पद २३, सूत्र २९३
५७५. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र १३२
५७६. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र १३२
५७७. प्रज्ञापना–पद ४
५७८. प्रज्ञापना–पद १३, सूत्र २९३
५७९. प्रज्ञापना–पद २
५८०. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र १३२
५८१. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९७
५८२. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
५८३. प्रज्ञापना–पद २३, सूत्र २९३
५८४. प्रज्ञापना–पद २३, सूत्र २९३
५८५. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४३
५८६. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र १७
५८७. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ८१
५८८. प्रज्ञापना–पद २३, सूत्र २९३
५८९. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ८१
५९०. प्रज्ञापना–पद २३, सूत्र ८१
५९१. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ३१
५९२. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
५९३. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ३३
५९४. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४७
५९५. प्रज्ञापना–पद २
५९६. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४७
५९७. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४६
५९८. प्रज्ञापना–पद ४, सूत्र ९८
५९९. प्रज्ञापना–पद २
६००. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४६

६०१. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४६
६०२. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
६०३. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५२
६०४. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४६
६०५. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ३७
६०६. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र २८
६०७. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
६०८. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र २८
६०९. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
६१०. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ४७
६११. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
६१२. प्रज्ञापना–पद २, सूत्र ५३
६१३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्षस्कार ४, सू. ९०
६१४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सू. १००
६१५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सू. ४
६१६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सू. ४
६१७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सू. १०३
६१८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सू. १३०
६१९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सू. १६४
६२०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सू. १६४
६२१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सू. १०३
६२२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सू. ८
६२३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०६
६२४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १२५
६२५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३०
६२६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र १६
६२७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ६८
६२८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ६, सूत्र १२५
६२९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०९
६३०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३७
६३१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३९
६३२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र १९
६३३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३५-३६
६३४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३७
६३५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७२
६३६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ५, सूत्र ११५
६३७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ५, सूत्र ७४
६३८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७४
६३९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र १२
६४०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७४
६४१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०३
६४२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३३
६४३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ८५

६४४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३३
६४५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ९५
६४६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ६, सूत्र १२५
६४७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ९५
६४८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७९
६४९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १११
६५०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०८
६५१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ६, सूत्र १२५
६५२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०६
६५३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १७७
६५४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०३
६५५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३३
६५६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ६९
६५७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३०
६५८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र २५
६५९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र १२
६६०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र १२
६६१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ८७
६६२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७९
६६३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र ८
६६४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७९
६६५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ६, सूत्र १२७
६६६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १४४-१४५
६६७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३४
६६८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३, वक्ष ४, सू. ८२, वक्ष ७, सू. १२७
६६९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ६८
६७०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १२७
६७१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ७६
६७२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७
६७३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ६९
६७४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ३०
६७५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४. सूत्र ८२
६७६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ७०
६७७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ७, सूत्र १३१
६७८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र ९
६७९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष ७, सूत्र १३४
६८०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३०, ३१

६८१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ७०

६८२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३३

६८३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष २, सूत्र ३३

६८४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र १८

६८५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र १०३

६८६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. २, सूत्र ३१, ३३

६८७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ८२

६८८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ३, सूत्र ६७

६८९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, ७, सूत्र १०३, १३४

६९०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. १, सूत्र १२

६९१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ६, सूत्र १२५

६९२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, ३, सूत्र १२५, ३३, ७०, ८६, ९१, ९७, ७५

६९३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–वक्ष. ४, सूत्र ८८, ७२

६९४. He who has a thorough knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas. Hand in hand with refined cosmographical ideas goes a high standard of Astronomy and mathematics. A history of Indian Astronomy is not conceivable without the famous "Surya Prajnapti."

—Dr. Schubring.

६९५. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा, ९

६९६. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ९ सूत्र ४२

६९७. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ९, सूत्र ४२

६९८. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ९, सूत्र ४२

६९९. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ९, सूत्र ४२

७००. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ९, सूत्र ४२

७०१. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १, प्रा. ९, सूत्र ४२

७०२. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १, प्रा. ९, सूत्र ४२

७०३. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ११, सूत्र ४४

७०४. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, प्रा. ११, सूत्र ४४

७०५. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १८, प्रा. सूत्र ९२

७०६. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १ प्रा. १ सूत्र ११

७०७. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत २०, प्रा. ३ प्रा. सूत्र १०५, सू. ३५

७०८. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १. प्रा. ६ सू. १८

७०९. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत ४ प्रा. सू. २५

७१०. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १० प्रा सू. ४६

७११. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्राभृत १०, १२, प्रा, १ सू. ३२, ७२

७१२. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १२ सू. ७२

७१३. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, प्रा. १३, सू. ४७

७१४. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १२, सू. ७२

७१५. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, प्रा. ९, सू. ७२
७१६. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, प्रा. २, सू. ४३
७१७. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, सू. ४३
७१८. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, सू. ४३
७१९. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. ३, सू. ३५
७२०. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १०, प्रा. २२, सू. ६०
७२१. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १३, सू. ८०
७२२. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. ११
७२३. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १९
७२४. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १८, सू. ५१
७२५. सूर्यप्रज्ञप्ति–प्रा. १, १०, प्रा. ९ सू. ४२
७२६. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७२७. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७२८. उत्तराध्ययन–अ. २४
७२९. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७३०. उत्तराध्ययन–अ. २४
७३१. उत्तराध्ययन–अ. ३०
७३२. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७३३. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७३४. उत्तराध्ययन–अ. २४
७३५. उत्तराध्ययन–अ. ३६
७३६. उत्तराध्ययन–अ. ३३
७३७. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७३८. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७३९. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४०. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४१. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४२. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४३. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४४. उत्तराध्ययन–अ. २
७४५. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४६. उत्तराध्ययन–अ. २६
७४७. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४८. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७४९. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७५०. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७५१. उत्तराध्ययन–अ. ३१
७५२. उत्तराध्ययन–अ. १ से ३६ तक
७५३. उत्तराध्ययन–अ. ३३
७५४. उत्तराध्ययन–अ. ३३, गा. ३१
७५५. उत्तराध्ययन–अ. ३३
७५६. उत्तराध्ययन–अ. ३३
७५७. अनुयोगद्वार सूत्र–सू. १३९
७५८. अनुयोगद्वार सूत्र–सू. १३९
७५९. अनुयोगद्वार सूत्र–सू. १३९, १४०
७६०. अनुयोगद्वार सूत्र–सूत्र १३९
७६१. अनुयोगद्वार सूत्र–सूत्र १३९
७६२. समवायांग वृत्ति १-२
७६३. "जंबुद्दीवे दीवे एगं जोयणसयसहस्सं आयायविक्खंभेणं" के स्थान पर "जंबुद्दीवे दीवे एगं जोयणसयसहस्सं चक्कवालविक्खंभेणं" आदि पाठ मिलता है 'नवरं जंबुद्दीवे इह सूत्रे' 'आयायविक्खंभेणं' ति क्वचित् पाठो दृश्यते क्वचित्तु 'चक्कवालविक्खंभेणं ति" ॥" समवायांग वृत्ति–अहमदाबाद संस्करण पृ. ५
७६४. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट सन् १९६२
७६५. श्रीकृष्ण के आगामी भव : एक अनुचिन्तन–लेखक–देवेन्द्र मुनि शास्त्री
७६६. लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जी, हैदराबाद वी. नि. २४४६
७६७. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद सन् १९५५
७६८. आगम अनुयोग प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नं. ११४१, दिल्ली ७
७६९. धर्मोपदेष्टा फूलचन्द जी म. द्वारा सम्पादित, गुडगांव–पंजाब
७७०. मुनि श्री नथमल जी सम्पादित, जैन विश्वभारती, लाडनूं
७७१. जैन संस्कृति रक्षक संघ-सैलाना (मध्यप्रदेश)